प्रोफेसर रामदरश मिश्र

(सरस्वती सम्मान से सम्मानित व्यक्तित्व)

(संरक्षक)

INTERNATIONAL PEER- REVIEWED(REFEREED) JOURNAL

RNI (UPHIN/2021/80567)

साहित्य मेघ

ISSN: 2583 - 5750

(साहित्यिक हिंदी मासिक)

प्रकाशन का आरंभिक वर्ष/माह : अप्रैल २०२१

सम्पादक मण्डल

भारत

प्रोफेसर ओमप्रकाश सिंह
opsingh@mail.jnu.ac.in
विभागाध्यक्ष भारतीय भाषा केन्द्र,
जे.एन.यू.)नई दिल्ली
M:(९८९९४४६८६१)

प्रोफेसर चन्द्रदेव यादव
cyadav@jmi.ac.in
विभागाध्यक्ष हिंदी विभाग,जामिया मिल्लिया इस्लामिया,नई दिल्ली
M: (९८१८१५८७४५)

प्रोफेसर जितेंद्र श्रीवास्तव
jksrivastava@ignou.ac.in
विभागाध्यक्ष हिंदी विभाग,
इंदिरा गांधी ओपन विश्वविद्यालय (इग्नू),
नई दिल्ली M:9818913798

प्रोफेसर राज कुमार
M:09415201281
drrajkumar@bhu.ac.in
हिंदी विभाग,काशी हिंदू विश्वविद्यालय ,वाराणसी

प्रोफेसर प्रभाकर सिंह
(9450623078)
prabhakarhindi@bhu.ac.in
प्रोफेसर,हिंदी विभाग,काशी
हिंदू विश्वविद्यालय,वाराणसी

प्रोफेसर श्रद्धा सिंह ९४१५५३०५८७
shraddha.singh@bhu.ac.in
प्रोफेसर, हिन्दी-विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ.आभा गुप्ता ठाकुर (9450960955)
abhag.hindi@bhu.ac.in
प्रोफेसर, हिंदी विभाग,काशी हिंदू विश्वविद्यालय,वाराणसी

डॉ.गाजुला राजू (9059379268)
raju.g@allduniv.ac.in
सहायक प्राध्यापक,हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय,प्रयागराज २११००२

डॉ.जर्नादन 9026258686
janardan@allduniv.ac.in
(सहायक प्राध्यापक)
हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,प्रयागराज

डॉ. बिजय कुमार रबिदास
bkrabidas@allduniv.ac.in
9432345604
सहायक आचार्य हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग,इलाहाबाद विश्वविद्यालय,प्रयागराज २११००२

विदेश

प्रोफ़ेसर उल्फत मुहीबोवा
ulpatxon_muxibova@tsuos.uz
M:998946443037
Tashkand State University of Oriental Studies, Tashkand,Uzbekistan

प्रोफेसरग्युज़ेल स्त्रेलकोवा
str@iaas.msu.ru.
M: +79199933635
एशिया और अफ़्रीकी देश अध्ययन संस्थान,मास्को राजकीय विश्वविद्यालय,मास्को

Farzaneh Azam Lotfi
f.azamlotfi@ut.ac.ir
Associate Professor
Department of foreign languages
University of Tehran,Iran

परामर्श मण्डल

भारत

डॉ. प्रताप सहगल
(९८१०६३८५६३)
प्रो. अब्दुल बिस्मिल्लाह
(९८११३०६३३१)
डॉ.शशि सहगल
(९८९९१६६१२९)
प्रो. कृपाशंकर पाण्डेय
(९९८४५२३७०६)
प्रो. मोहन
(९८७१११५५००)
(दिल्ली विश्वविद्यालय)
प्रो.लालचंद राम
९९९००७०८९५
विभागाध्यक्ष,एन सी ई आर टी
प्रो.राम आहलाद चौधरी
(९४३२०५१५००)
(विभागाध्यक्ष कलकत्ता विश्वविद्यालय)
प्रोफेसर (पूर्व) शत्रुघ्न कुमार
shatrughnakumar@ignou.ac.in
प्रो.चंदा देवी
(८००४९२८४४१)(इला. यू.)
प्रो. रामकली सराफ
(९३८९४३२१६५)
डॉ० प्रभा पंत
प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष हिंदी विभाग,
एम०बी०रा०स्ना०महाविद्यालय,हल्द्वानी
dr.prabhapant@gmail.com
प्रो. रूबी जुत्शी

विदेश

प्रो. सरन घई
(±१ (६४७) ९९३-०३३०)
कनाडा
तेजेन्द्र शर्मा
(४४ ७४००३१३४३३)
(Ùet.kesâ.)
प्रो. पुष्पिता अवस्थी
(±९१ ७०५८४-६२९५१)
(www.pushpitaawasthi.com)
नीदरलैंड
डॉ. सुरेश चंद्र शुक्ल
'शरद आलोक'
(±४७ ९००७०३१८)
(speil.nett@gmail.com)
नॉर्वे
अनुराग शर्मा
(±१ (४१२) ६९२-१३६२)
(indiasmart@gmail.com)
अमेरिका
रेखा राजवंशी
(±61 403116301)
ऑस्ट्रेलिया

साहित्य मेघ

sahityamegh.com
sahityamegh@gmail.com
जून 2023

डॉ. दानिश
९६९६४८६३८६
प्रधान संपादक
डॉ.तबस्सुम जहां
९८७३१०४११०
उप-संपादक (अवैतनिक)

डॉ.राजविंदर कौर
९७५९९१२४३४
सह-संपादक (अवैतनिक)
श्रीमती एस.के.'सुमन'
९१७०६८०२३५
आर्थिक सलाहकार

सहयोग राशिः१०००/- (भुगतान के लिये :९६९६४८६३८६)

बंगला साहित्यिक वितान	प्रो.डॉ.राम आह्लाद चौधरी	4
राजभाषा हिन्दी और तकनीकी अनुवादः एक मौलिक-विमर्श	डॉ पूरनचंद टंडन	11
ललित निबंधों में रचनात्मक अभिव्यक्ति के विविध आयाम	डॉ. बालकृष्ण राय	13
अनामिका और कत्यायनी की कविताओं का तुलनात्मक अध्ययनः	डॉ. किंगसन सिंह पटेल (एसोसिएट प्रो.)	
(दूब- धान' और 'सात भाइयों के बीच चंपा' के विशेष संदर्भ में)	रेखा मौर्या (शोध छात्रा)	17
चित्रा मुद्गल के उपन्यास आवां में स्त्री जीवन की समस्याएँ	डॉ नीलम कुमारी	21
साहित्य और सिनेमा	डॉ.विनीता रानी	27
सांस्कृतिक अस्मिता और मीडिया का दायित्व	डॉ० अनिला एम० मिश्रा	32
सामाजिक विकास में शिक्षा एवम संस्कृति का योगदान	१.डॉ विक्की २.डॉ सुरजीत कौर ३कुलदीप सिंह टण्डवाल ४.डॉ दीपा त्यागी	37
साहित्य और फिल्मों में जम्मू कशमीर का प्रतिनिधित्व	डा.अली अहमद इदरीसी	43
'ढलती सांझ का सूरजः किसान जीवन की त्रासदी'	आकांक्षा मिश्रा	46
महानगरीय जीवन का यथार्थ और १७ रानाडे रोड	१मनीष कुमार शुक्ल २राजेश कुमार गर्ग	52
बेहटा कलां उपन्यास का कथा भूगोल	अमन वर्मा(दीप अमन)	56
भारतीय सामाजिक संरचना में स्त्री	रिंकी कुमारी	60
आम जनजीवन की लय से संगीत रचती नरेश सक्सेना की कविताएं	यशवंत कुमार विश्वकर्मा	65
जाम्भोजी के काव्य में पर्यावरण चिंतन	रॉक्सी	72
'वे दिन' उपन्यास में अभिव्यक्त अकेलापन और संत्रास	शाहीन	77
पटकथा की दृष्टि से 'पंचलाइट' फिल्म का अध्ययन	मतीन अहमद	81
भिखारी ठाकुर का लोकसाहित्य और सामाजिक सरोकार	अनूप कुमार	84
सिंह सेनापति उपन्यास में नारी चित्रण	सुषमा गुप्ता	87
स्त्री-पुरूष प्रेम संबंधों का अंतर्विरोध है त्रिशंकु	विभा जायसवाल	90
शिक्षा की असफलता यानी समाज-देश की असफलता	नवेन्दु जोशी	95
'हिन्दी पत्रकारिता और साहित्य निर्माण' हिन्दी विभाग,इलाा.विश्व.	संगोष्ठी संयोजक- राजेश कुमार गर्ग	100

बंगला साहित्यिक वितान

प्रो.डॉ.राम आह्लाद चौधरी

प्रोफेसर एवं पूर्व अध्यक्ष
हिंदी विभाग,कलकत्ता विश्वविद्यालय
कोलकाता-७०००७३
मोबाइलः९४३२०५१५००

बंगला साहित्यिक वितान यानी बंगला साहित्य का फैलाव।साहित्य का विस्तार खुद-ब-खुद होता रहता है।इसका न तो कहीं ओर निकलता है और न कहीं छोर। बंगला साहित्य का विस्तार विद्वानों ने संस्कृत भाषा के मुहाने से मानने की कोशिश की है,किंतु कई ऐसे विद्वान हैं; जिन्होंने बंगला भाषा का आरंभ प्राकृत भाषा से मानने का प्रयास किया है। साहित्य भी एक अद्भुत कला है,जहाँ कोशिश और प्रयास का मतलब एक होते हुए भी इन दोनों शब्दों के अपने-अपने महत्त्व हैं। दरअसल साहित्य उन तमाम शब्दों को अर्थ देता है जिन शब्दों को समाज उपेक्षा की दृष्टि से देखता है।सामाजिक अर्थवत्ता की गहराई में जाने के बाद यही पता चलता है कि यदि साहित्य नहीं होता तो उपेक्षितों-अवहेलितों को स्थान नहीं मिलता।

बंगला साहित्य ने भारतीय साहित्य को आधार दिया है;अधिरचना भी। दरअसल इस मानवीय समाज में आधार और अधिरचना एक साथ प्रदत्त करने की क्षमता साहित्य में ही होती है। यही कारण है कि बंगला साहित्य का वितान उद्देश्य सापेक्ष है तथा विश्व-मंच पर अपनी पहचान के साथ ख्यातिलब्ध है। साहित्य समाज की दो आँखों के समान है जो सागर में उठती लहरों को गिनने का काम करती है।

बंगला साहित्य का ओर-छोर खोजना मुश्किल है,किंतु उसके वितान पर जब-जब नजर जायेगी तब-तब काजी नजरुल इस्लाम,सूफिया कमाल के नाम सामने आएंगे साथ ही 'मैमन सिंह गीतिका' का महत्त्व भी उजागर होगा।

मैमन सिंह गीतिका की शताब्दी पूरी हुई है। बंगला साहित्यिक वितान की बानगी के रूप में एक कवि,एक लेखिका और एक गीतिका का विश्लेषण अपेक्षित है।प्रस्तुत है इस आलेख में काजी नजरुल इस्लाम की महत्ता,सूफिया कमाल की गरिमा और मैमन सिंह गीतिका की संभावनाएंः

रणभूमि के बीचो-बीच खड़ा महाविद्रोही काजी नजरुल इस्लाम की एक सौ चौबीस वीं जयंती चौबीस मई को पूरे विश्व में मनायी गयी ।खासकर बंगला देश में नजरुल इस्लाम की एक सौ चौबीस वीं जयंती धूमधाम से मनायी गयी। नजरुल का जन्म २४ मई १८९९ को अविभाजित बंगाल के पुरुलिया में हुआ था और उनका निधन बंगलादेश के ढाका में २९ अगस्त १९७६ को हो गया । इस मौके पर विभिन्न तरह के कार्यक्रम आयोजित किये जाते हैं ।इस देश में भी नजरुल जयंती मनायी जाती है । दूसरों के लिए जीवन भर उन्होंने गरल पान किया। दरअसल कवि किसी भाषा या किसी देश का नहीं होता है बल्कि वह पूरे विश्व का होता है, इसलिए कि उसकी वाणी इस सृष्टि में प्रतिध्वनित होती है। इस फिजा में नजरुल की वाणी गूंजित है,तभी तो नजरुल किसी के लिए विद्रोही कवि हैं, तो किसी के लिए कृष्ण काव्यधारा के अद्भुत सर्जक हैं।

सच तो यह है कि किसी कवि या किसी कविता को किसी रस्सी से बांधना व्यर्थ है।कवि और कविता बंधन

से परे है,हालांकि कवि या कविता को बार-बार बांधने की कोशिश की जाती है ।जो इस तरह की कोशिश करते हैं, उन्हें उनकी कोशिश मुबारक हो! कहने का एक ही उद्देश्य है कि किसी रचना या किसी सर्जक को रस्सी में बांधने के बदले उसके सृजन में मानवता के आह्वान पर विशेष ध्यान देना उचित है ।मानवता के गुण ही किसी रचना को शाश्वत प्रासंगिक बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं और मानवता की गुणवत्ता का आधार यदि कुछ है, तो वह है- मुहब्बत के साथ-साथ इंसानियत ।

सही अर्थों में नजरुल की जिंदगी मुहब्बत और इंसानियत के प्रति समर्पित है ।इसका सबसे बड़ा उदाहरण उनकी अमर कृति 'अग्निवीणा ' है ।किसकी हिम्मत है 'धूमकेतु ' पत्रिका की भूमिका को नजरअंदाज करने की ,किसे इन पंक्तियों को पढ़ने से सुकून नहीं मिलेगा, अनमोल शब्द हैं।इन शब्दों की ताकत को पहचानना जरूरी है, प्रस्तुत है चंद पंक्तियाँः चुपके चुपके तुमरे हृदय में/बसता बंसीवाला;/ और, धीरे धारे उसकी धुन से/बढ़ती मन की ज्वाला।/ पनघट में नैन बिछाए तुम,/रहते आस लगाए/और, काले के संग प्रीत लगाकर/हो जाते बदनाम।। / क्या कारण है कि प्रीत लगाने से बदनामी मिलती है,इसके पीछे हजारों कारण हो,पर सबसे बड़ा कारण अहंकार है । अहंकार एक अमानवीय व्यवहार है, जो पतन की सूचना देता है ।भारतीय संस्कृति में इसके हजारों उदाहरण मिल जायेंगे। नजरुल की रचनाओं में अहंकार के खिलाफ भारी असंतोष प्रकट होने के सैकड़ों प्रतीक मौजूद हैं ।उन सभी प्रतीकों में एक अनोखा आह्वान है,जिसे इन पंक्तियों में देखा जा सकता है ।यथा- 'खेलत वायु फूलवन में, आओ प्राण-पिया। आओ मन में प्रेम-साथी आज रजनी, गाओ प्राण-पिया।।/मन-वन से प्रेम मिलि खेलत है फूलकली,
बोलत है पिया पिया बाजे मुरलिया।।/ मन्दिर में राजत है पिया तव मूर्ती।प्रेम-पूजा लेओ पिया, आओ प्रेम साथी।।/
चाँद हँसे तारा साथे आओ पिया प्रेम-रथे
सुन्दर है प्रेम-राती आओ मोहनिया आओ प्राण पिया।।'
सबसे बड़ी बात यह है कि नजरुल ने अपनी कविता में यथार्थ की जमीन पर चांद को हंसा दिया, दुनिया के कुछ लोग दूसरों को हंसाते नहीं है, पर दूसरों पर हंसते है ।दूसरों पर हंसना आसान है, लेकिन दूसरों को हंसाना कठिन है ।

नजरुल की कविताएं लोभ और लाभ से ऊपर उठकर एकता का संदेश देती हैं, 'नाचे यशोदा के अंगना में शिशु गोपाल।/चरणन में मधुर धुन बाजे झाँझन ताल।।/अधीर भय धीर पवन काँपन लगे थिर गगन,/ अरुण-अनुराग से भय नभो-लोचन लाल।।/ नाचत महाकाल मेघ कि जटाजूट खोले/ बावरी ध्वान भोले त्रिलोक ब्रह्मा ध्यान भोले!/ बहे उजान यमुनाबारी नाचन लागी बृज-कुमारी/ नाचे इन्द्र, चन्द्र, रवि बनके गोपाल।।' सही मायने में नजरुल ने भारतीय काव्य परंपरा को एक नई जान दी है।यही कारण है कि उन्होंने 'विद्रोही ' जैसी कविता इस संसार को उपहार के तौर पर भेंट की है ।इस उपहार रूपी कविता की इन पंक्तियों पर ध्यान देना अत्यंत जरूरी है ।प्रस्तुत हैं पंक्तियाँः ' मै महाविद्रोही अक्लांत/ उस दिन होऊंगा शांत/जब उत्पीड़ितों का क्रंदन षोक/आकाश वायु में नहीं गूंजेगा/जब अत्याचारी का खड्ग/निरीह के रक्त से नहीं रंजेगा/ मैं विद्रोही रणक्लांत/ मैं उस दिन होऊंगा शांत/ पर तब तक/ मैं विद्रोही दृढ़ बन/भगवान के वक्ष को भी/लातों से देता रहूंगा दस्तक/तब तक/मैं विद्रोही वीर/ पी कर जगत का विष/ बन कर विजय ध्वजा/ विश्व रणभूमि के बीचों-बीच/ खड़ा रहूंगा अकेला/ चिर उन्नत शीश/ मैं विद्रोही वीर/बोलो वीरष्ठ'

नजरुल रणभूमि के बीचों-बीच खड़े होने वाले कवि हैं ।इसलिए उन्होंने 'धूमकेतु ' पत्रिका प्रकाशित की। १९२१में क्लासिक कविता 'विद्रोही' लिखी और एक साल बाद १९२२ में, अर्ध-साप्ताहिक पत्रिका धूमकेतु उनके संपादन में प्रकाशित हुई। इस वर्ष धूमकेतु के एक सौ एक साल हो गये । सौ साल बाद पीछे मुड़कर देखने पर यह देखा जा सकता है कि पत्रिका ने नजरुल को कई तरह से प्रभावित किया है।धूमकेतु नाम नजरुल ने दिया है। और इसके छपने के बाद जिस तरह इसके बोल्ड रोल की चर्चा हुई, उसी तरह नजरुल की भी चर्चा हुई । उस समय नजरुल को लगा कि अगर अफजलुल हक ने प्रकाशन का जिम्मा संभाल लिया तो पत्रिका का प्रकाशन आसान हो जाएगा ।यह अफजलुल हक तत्कालीन मुस्लिम भारत अखबार के

संपादक मोजम्मल हक के पुत्र थे। इससे पहले नजरुल का उपन्यास 'बंधनहारा' मुस्लिम भारत में लगातार छपता रहा । उस समय धूमकेतु का पता ३२ कॉलेज स्क्वायर था और ७९ बलराम दे स्ट्रीट स्थित मेटकाफ प्रेस से यह पत्रिका छपती थी । पत्रिका का पहला अंक ११ अगस्त १९२२ को प्रकाशित हुआ था। प्रति अंक मूल्य १ आना था वार्षिक ग्राहक सदस्यता ५ रुपये था। संपादक नजरुल, जो खुद को 'सारथी' (संपादक) बताते थे। वे सातवें अंक तक संपादक के रूप में अखबार से जुड़े रहे और मैनेजर शांतिपद सिंह थे। इस पत्रिका को रवीन्द्रनाथ का आशीर्वाद प्राप्त हुआ, जो छठे अंक तक प्रथम पृष्ठ पर और सातवें अंक से तीसरे पृष्ठ पर छपता रहा। यह आशीर्वाद रवींद्रनाथ की लेखनी से प्रकट हुई थी,जो इस प्रकार प्रकाशित हुआ था:'आओ धूमकेतु,/अँधेरे में आग का पुल,/ इस कठिन जगह में/ अपनी जीत का फूंक मारो केतन!/चिन्हों की तिलक पंक्तियाँ/ शुभ रात्रि लेखन,/ देर से सोकर उठे/ कुछ ऐसे हैं जो आधे-अधूरे हैं!''

धूमकेतु पत्रिका के संपादकीय में उन्होंने लिखा- ' मेरा सच मेरा मार्गदर्शन करेगा।ष्ठ धूमकेतु कोई सांप्रदायिक कागज नहीं है। मानवतावाद सबसे बड़ा धर्म है। इसका एक उद्देश्य हिंदू-मुस्लिम सुलह की बाधाओं या खामियों को दूर करना है। जहां लोगों का जीवन एक जैसा हो, वही सत्य है, वहां न धर्म का भेद होता है, न हिंसा। जिसे अपने धर्म में आस्था है, जो अपने धर्म की सच्चाई जानता है, वह दूसरे धर्म से कभी घृणा नहीं कर सकता।' उनकी यह वाणी वर्तमान में इस दुनिया में प्रतिध्वनित होती है, यही सबसे बड़ा प्रमाण है कि नजरुल रणक्षेत्र के बीचो-बीच खड़े सर्जक हैं और जिनका सृजन इस दुनिया को हमेशा आलोकवर्तिका बनकर रोशनी देने के लिए संघर्षरत है ।

बेगम सूफिया कमाल के साहित्यिक कमाल का एक अवलोकन

बेगम सूफिया कमाल बंगाल की एक प्रसिद्ध कवयित्री हैं, जिनकी ११२वीं जयंती पूरी दुनिया में मनायी गयी। उनका जन्म २० जून १९११ को बंगलादेश के शाइस्ताबाद में हुआ था तथा उनका निधन २० नवंबर १९९९ को ढाका में हो गया। साहित्य की विविध विधाओं को समृद्ध करने में बेगम सूफिया कमाल ने जो भूमिका निभायी उस भूमिका पर चर्चा करना वर्तमान में अत्यंत जरूरी है, इसलिए कि उनकी प्रासंगिकता शाश्वत है। बेगम सूफिया कमाल ने खासकर रूढ़िवादिता के गढ़ को ढाह दिया, यही कारण है कि यह दुनिया उन्हें सलाम करती है। बेगम सूफिया कमाल पहली मुस्लिम महिला हैं, जिनकी तस्वीर पत्रिका में छपी। उनकी तस्वीर से पहले पत्र-पत्रिका में मुस्लिम महिलाओं की तस्वीर नहीं छपती थी। इस दृष्टि से यह कहना उचित है कि पत्र-पत्रिकाओं को सुंदर बनाने में बेगम सूफिया कमाल का नाम सर्वोपरि है। उन्होंने पत्र-पत्रिकाओं को न केवल तस्वीरों से सजाने पर जोर दिया बल्कि पत्र-पत्रिकाओं को विषय-वस्तुओं की दृष्टि से भी सजाने-संवारने का काम किया। यही कारण है कि उन्होंने बंगला में कविता-कहानी रेखाचित्र सहित अन्य साहित्यिक विधाओं को एक व्यापक मंच पर स्थापित किया।

बेगम सूफिया कमाल की मुलाकात महात्मा गांधी से सन् १९२५ में हुई थी। इस मुलाकात ने उनके जीवन-दर्शन को एक नया आयाम दिया। इसकी स्पष्ट छाप उनके रचनात्मक संघर्ष पर सदा लक्षित होती रही। बेगम सूफिया कमाल सही अर्थों में सादा जीवन उच्च विचार का नजीरविहीन दृष्टांत थीं। इस दृष्टांत पर चर्चा करने से पहले यह भी बताना आवश्यक है कि बेगम सूफिया कमाल की लेखनी की प्रशंसा रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा नजरूल इस्लाम ने की थी। इस तरह महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा नजरूल इस्लाम का सान्निध्य पाकर बेगम सूफिया कमाल की रचनात्मक यात्रा को जिस तरह गति मिली ठीक उसी तरह बेगम रुकैया की रचनात्मक क्षमता ने बेगम सूफिया कमाल की लेखनी को नयी ऊर्जा दी।यदि बेगम सूफिया कमाल की रचनात्मक भूमिका की चर्चा की जायेगी, तो यह स्पष्ट होगा कि बेगम सूफिया कमाल ने अपनी रचनाओं के जरिये समाज की रूढ़िवादिता को तोड़ने का काम किया। उनकी रचनाओं ने इस उपमहादेश की दो-दो राष्ट्रीय संघर्षों को वाणी दी।

बेगम सूफिया कमाल की कला सही मायने में तब उभरकर सामने आती है, जब उन्होंने अपनी रचनाओं में प्रकृति को संबोधित करने के साथ-साथ समाज के उन मुद्दों को जनता के सामने अपनी अभिव्यक्ति के जरिये प्रकट करने की कोशिश की है, शायद ही कोई ऐसा रचनाकार मिलता हो, जिसने समाज के व्यापक से व्यापकतम हिस्सों को प्रस्तुत करने में सार्थकता हासिल किया हो। अक्सर यह दिखता है कि रचनाकार किसी खास विषय को लेकर चलता है और उस विषय की गहराई के अंतस्थल में प्रविष्ट करने की कोशिश करती है, लेकिन बेगम सूफिया कमाल ने अपनी सृजनशीलता को विविधता से जोड़ने का प्रयास किया है। साहित्यिक विविधताओं को संस्कृति तथा संवाद की परिधियों से बाहर निकालना एक मुश्किल काम है, जिस काम को बेगम सूफिया कमाल ने बखूबी निभाने का प्रयास किया। उन्होंने बंगला भाषा आंदोलन को ठोस आधार दिया है। उन्होंने जिस तरह से भाषा आंदोलन की परिधि का विस्तार किया, उसकी चर्चा पूरे विश्व में होती है। उनकी साहित्यिक-सामाजिक भूमिका ने साहित्य-समाज को एक नयी सतह दी। यही वजह है कि बंगला साहित्य के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के साहित्य में बेगम सूफिया कमाल के लेखन की पड़ताल करने पर जोर दिया जाता है।

बेगम सूफिया कमाल की रचनाओं की मुख्य वाणी प्रगतिशीलता का विस्तार है। न केवल साहित्य बल्कि संवाद के अन्तर्गत भी उन्होंने प्रगतिशील तत्त्वों को स्थान दिया है। प्रगतिशील तत्त्वों ने उनके विचार को अंतर्राष्ट्रीय मंच पर जगह दी। उन्होंने साहित्य के जरिये कभी इतिहास को विकृत नहीं किया तथा कभी विज्ञान की अहमियत को कम नहीं किया। सच तो यह है कि आधुनिकता के सारे पहलुओं को अपनी कृतियों में स्थापित करने की कोशिश की। उनके साहित्यिक अवदानों पर न केवल साहित्यिक शोध हुए हैं। इतिहास के शोधार्थिर्यों ने भी ऐतिहासिक दृष्टि से उनके सामाजिक-सांस्कृतिक अवदानों का निरीक्षण किया है। बेगम सूफिया कमाल की साहित्यिक महत्ता इसी में निहित है कि उनका साहित्य अपने कालखंड का दस्तावेज है।

बेगम सूफिया कमाल ने साहित्य के जरिये उनके समय का दस्तावेजीकरण किया है। सृजनशीलता को दस्तावेजीकरण तक पहुँचाने के सिलसिले में बेगम सूफिया कमाल के अवदान को यह दुनिया सदा याद रखेगी। विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि सृजन का काम अक्सर प्रवृत्तिमूलक होता है, जबकि बेगम सूफिया कमाल ने यह प्रमाणित किया कि सृजन एक तरह का दस्तावेजीकरण है और यह दस्तावेजीकरण समाज में व्याप्त गरीबी शोषण अत्याचार का दस्तावेजीकरण है। यही वह बिंदु है, जहां से बेगम सूफिया कमाल की रचनाओं को पढ़ा जा सकता है। उनकी रचनाओं में मौजूद प्रगतिशीलता ने आधुनिकता का कपाट खोला है। बेगम सूफिया कमाल ने आधुनिकता को समाज में स्थापित करने पर विशेष बल दिया है। आधुनिकता के जरिये ही समाज के पीड़ित-उत्पीड़ितों को सम्मान मिलता है और यह सम्मान तभी मिलता है, जब उन्हें अधिकार दिया जाए। बेगम सूफिया कमाल की रचनाएँ जीवन-संघर्ष में जुटे रहने का संदेश देती हैं।

बेगम सूफिया कमाल प्रमुख संपादकों में अन्यतम संपादक थी। उन्होंने ''बेगम'' नामक साप्ताहिक पत्रिका का संपादन किया। सन् १९४७ से यह पत्रिका छपने लगी थी। यह पत्रिका ढाका से प्रकाशित होती थी। बेगम सूफिया कमाल इस पत्रिका की प्रथम संपादक थीं। इस पत्रिका में महिलाओं की अभिव्यक्ति को प्रमुखता से स्थान दिया गया। बेगम सूफिया कमाल ने महिलाओं के अधिकारों को समाज में स्थापित करने के लिए जो एक तरह से संग्राम शुरू किया था, उस संग्राम का जरिया यह पत्रिका थी। इस पत्रिका के जरिये बेगम सूफिया कमाल ने समाज के अधिकतर महिलाओं को सम्बोधित करते हुए यह बताने का प्रयास किया कि समाज के उत्पीड़ितों को जब तक इस समाज का कल्याण नहीं हो सकता है। उन्होंने शांति का संदेश दिया और इसी उद्देश्य से ढाका में महिला परिषद का गठन किया। देश विभाजन की त्रासद स्थितियों का सांगोपांग विवेचन करते हुए सूफिया कमाल ने यह सिद्ध किया कि विभाजन की राजनीति देश-दुनिया के लिए अत्यंत खराब है। उनकी वाणी विभाजन की राजनीति को नकारती है।

सौहार्द्रता उनकी वाणी का केन्द्र बिंदु है।

बेगम सूफिया कमाल के साहित्यिक अवदानों की चर्चा करते हुए विद्वानों ने एक स्वर में स्वीकार किया है कि बंगला साहित्य को विस्तार देने में बेगम सूफिया कामल की भूमिका एक आलोकवर्तिका की तरह रही है तथा इस आलोकवर्तिका ने समाज में व्याप्त अंधेरे को दूर किया है। बेगम सूफिया कमाल ने विभिन्न भाषाओं के अंतःसंबंधों को स्पष्ट करते हुए यह भी साबित किया है कि भाषा विभिन्न भाषाओं के बीच सेतु का काम करती है। भाषा की सहजता और सरलता ही सामाजिक जीवन की प्राण-वायु है।

बंगलादेश के मुक्ति संग्राम में बेगम सूफिया कमाल का योगदान सदा अमर रहेगा। उनके इस योगदान पर विमर्श होता रहता है। खासकर उनकी जयंती के मौके पर विमर्शकर्ताओं ने स्वीकार किया है कि बेगम सूफिया कमाल ने मुक्ति संग्राम में अपनी सक्रियता बढ़ाते हुए यह प्रमाणित किया है कि तानाशाही प्रवृत्ति अधिक दिनों तक सत्ता के सिंहासन पर विराजमान नहीं रह पाती है।

बेगम सूफिया कमाल का साहित्य जनतांत्रिक अधिकारों को समाज में स्थापित करने का आह्वान करता है, जिसका मुख्य आधार इंसानियत है। उनके साहित्य में बार-बार इंसानियत की वकालत की गयी है। इंसानियत की वकालत करते-करते बेगम सूफिया कमाल की लेखनी धीरे-धीरे दर्शन के क्षेत्र में प्रविष्ट करती है तथा उनकी लेखनी यही संदेश देती है कि कोई कुछ लेकर नहीं जाता। उनका साहित्य जीवन के हाहाकार से टकराता है तथा एक विकल्प प्रस्तुत करता है। बेगम सूफिया कमाल का साहित्य जीवन को परिपूर्ण करने में विश्वास रखता है। उनकी लेखनी की परिपूर्णता साहस के साथ अन्यायियों-अत्याचारियों का शिनाख्त करने में पूरी तरह से सक्षम हुई है। बेगम सूफिया कमाल सही मायने में एक वीर कवयित्री हैं, जिन्होंने अपनी लेखनी से रूढ़िवादिता को पूरी हिम्मत से ढाह दिया। सचमुच उनकी लेखनी की यह जय-यात्रा अक्षण्णु है।

'मैमन सिंह गीतिका' की शताब्दीन

भारतीयत्वस मानस का प्रतिनिधित्वं करने वाली ''मैमन सिंह गीतिका'' की शताब्दीह पूरी हुई। यह हर्ष का विषय है कि सन् १९२३ में मैमन सिंह गीतिका का प्रकाशन हुआ था। कलकत्ता विश्विद्यालय ने इस गीतिका का प्रकाशन किया था। दिनेश चंद्र सेन ने इस गीतिका का संपादन किया था तथा चंद्र कुमार ने इसका संग्रह किया था। इस गीतिका का अंग्रेजी अनुवाद भी कलकत्ता विश्वरविद्यालय ने उसी वक्त। प्रकाशित किया था। उस अनुवाद का शीर्षक था- 'ईस्ट?र्न बंगाल बैलाड्स'। अनुवाद पहले प्रकाशित हुआ था ग्रंथ बाद में प्रकाशित हुआ। इस पुस्तिक के प्रकाशन से यही पता चलता है कि लोकगीतों में भारत की समृद्ध परंपरा सुरक्षित है। उन लोकगीतों से यह भी स्पयष्टा होता है कि गुलामी की मानसिकता को भारतीय मानस ने कभी स्वी कार नहीं किया। भारत की वह समृद्ध परंपरा रही है, जिसने खासकर गरीब किसानों के बीच सुरक्षा कवच का काम किया है। इस गीतिका के जरिये यह मालूम होता है कि किसानों की वाणी हृदयस्पकर्शी होती है, जिस वाणी में प्रेम और मानवता के गुण सुरक्षित होते हैं। दुनिया सीता और सावित्री को जानती है, लेकिन 'मैमन सिंह- गीतिका' ने महुआ, कमला, दीवान, भावना, रूपावती, कोबको व लीला, काजोल रेखा, दीवान मदीना जैसी महिलाओं की भूमिकाओं को रेखांकित किया है। दिनेश चंद्र सेन ने इस ग्रंथ की भूमिका में यह स्पीष्ट लिखा है कि मुक्तश प्रेम में महिलाओं की भूमिका वस्तुदतः एक विजयनी शक्ति के रूप में झलकती है। खासकर पूर्व बंगाल को सजाने और संवारने में महिलाओं का अवदान किसी से अजाना और अज्ञात नहीं है।

जाहिर है कि कलकत्ता विश्वअविद्यालय ने इस कार्य के लिए दिनेश चंद्र सेन को नियुक्ति पत्र दिया था। इस विश्वतविद्यालय के रामतनु लाहि?ड़ी रिसर्च फेलोशिप के तहत चार खंडों में दिनेश चंद्र सेन ने 'पूर्व बंग गीतिका' का भी संपादन किया था। उन्होंने कई महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का संपादन किया है, लेकिन उन्हें यह दुनिया का गीतात्मेक संपादक के रूप में जानती है। इस वक्तद कलकत्ता विश्विविद्यालय ने चंद्र कुमार की नियुक्ति की। इस कार्य को आगे बढ़ाने में आशुतोष चौधरी, जसीमुद्दीन, नागेन्द्रर चंद्र दे भी सार्थक भूमिका रही है। इस तरह यह देखा जा

सकता है कि कलकत्ता विश्वमविद्यालय ने भारतीयत्व की गरिमा की रक्षा के लिए ब्रितानी भारत में महती भूमिका का पालन किया। मैमन सिंह गीतिका में जिन ५४ कथा-गीतों को संगृहीत किया गया है, उन कथा-गीतों का विश्लेषिण बड़े-बड़े विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से प्रस्तुयत किया है। उन कथा गीतों का महत्त्व न केवल उस ब्रितानी भारत के लिए कारगर साबित हुआ बल्कि इस स्वकतंत्र भारत में भी कई मायने में उपयुक्तक है। इसकी चर्चा निश्चित रूप से वर्तमान समय में अपेक्षित है, क्योंकि पूरे देश में आजादी का अमृत महोत्सपव मनाया जा रहा है।

ब्रितानी शासन के खिलाफ संघर्ष की समृद्ध परंपरा का जब-जब विश्लेपषण-विवेचन किया जायेगा, तब-तब यह सच उभर कर सामने आयेगा कि भारत के किसानों ने प्रम और मानवता के आधार पर न केवल समाज को एकत्रित किया बल्कि इन्हीं दो गुणों को पाथेय बनाकर संघर्ष-पथ की यात्रा शुरू की, उन किसानों के जीवन में हाहाकार के अलावा यदि कुछ था, तो सिर्फ प्रेमपूर्ण मानवता। हालांकि अंग्रेजी शिक्षा से प्रभावित विद्वानों का एक ऐसा हिस्सा् भी है, जिसने भारतीयत्व् की इस गुणवत्ता को खारिज करते हुए यह कहा है कि अंग्रेज नहीं आते, तो भारत सभ्यम नहीं होता । यदि इस पंक्ति की तरफ ध्या न दिया जाए तो स्प्टस होगा कि सभ्य् होने से भी महत्त्वपूर्ण है संस्कृ त होना। जो संस्कृातिवान होते हैं, वे न सिर्फ परि?स्थिटतियों का अवलोकन करते हैं बल्कि परिस्थिपतियों के बीच उत्पान्न? गुण-अवगुण दोनों पर विमर्श केंद्रित करते हुए यह सिद्ध करने की जरूरत महसूस करते हैं कि गुणों की चर्चा करने से समाज को ऊर्जा मिलती है। संस्कृकति, समाज को ऊर्जस्वि।त करती है जबकि सभ्याता एक तरह से समाज का परिचय देती है। महा जनकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने सभ्याता और संस्कृकति का विवेचन करते हुए बिल्कुनल सही लिखा है कि हथियार बनाने का काम सभ्य?ता करती है, लेकिन हथियार का प्रयोग जान लेने के लिए किया जाए या नहीं यह बात संस्कृति ही बताती है। इस बात को और स्प ष्टे करते हुए दिनकर ने यह भी बताया है कि मकान बनाना एक तरह से सभ्यीता है, जबकि मकान में किस तरह रहा जाए, यह हमें संस्कृनति ही बताती है।

इस दृष्टि से यदि दिनेश चंद्र सेन द्वारा संपादित ग्रंथ 'मैमन सिंह गीतिका' पर विमर्श प्रस्तुैत किया जाए, तो यह कहने की जरूरत नहीं पड़ेगी कि इस ग्रंथ की शताब्दीग मनाना क्यों जरूरी है, इसलिए कि सभ्य ता और संस्कृति की असली शक्ति का इस ग्रंथ में निरूपण किया गया है। सभ्य,ता और संस्कृ ति सदा यही वकालत करती है कि सदा संघर्ष के मैदान में डटे रहो, संघर्ष के मैदान में सच कभी खाद नहीं बनता है, जो इस ग्रंथ की मूल वाणी है। इस मूल वाणी का अर्थ इसी में निहित है कि लड़ने वाला कभी मरता नहीं है और जिसे मरने का डर है, वह कभी लड़ नहीं पाता है।

'मैमन सिंह गीतिका' की सार्थकता इसी में है कि विषम से विषम परिस्थिरतियों में सदा प्रेम और मानवता को जाग्रत करना। न केवल भारतीय दर्शन में बल्कि विश्वम स्तिर पर सदा यह देखा गया है कि प्रेम के जरिये ही दो पारस्प्रिक विरोधी शक्तियों के बीच समन्वरय स्थाखपित हुआ है। समन्वियात्मिक सोच ने ब्रितानी भारत में किसानों को अधिक से अधिक दूर जाने के लिए अभिप्रेरित करने का प्रयास किया है। यही वजह है कि इस गीतिका में मानवता के रत्नद देखने को मिलते हैं। सच यह है कि इन रत्नों में आकर्षण है और इन रत्नों में सौंदर्य है, इन रत्नोंक में जीवनवादी सोच है, जिसने औपनिवेशिकता के विरुद्ध खड़ा होने की ऊर्जा दी है। विद्वानों ने यह भी स्वीीकार किया है कि इस गीतिका में मिथक का प्रयोग हुआ है, मिथक का प्रयोग निश्चित रूप से काव्या?त्माक सौंदर्य को जिंदगी प्रदान करता है। तभी तो, खेत में हल चलाने वाले किसान सोच पाते हैं कि हिंदू और मुसलमान दो नहीं है, बल्कि एक हैं क्योंकि दोनों मनुष्यो हैं और जो मनुष्यमत्व की चर्चा करता है, वही अच्छी तरह समझता है कि साझा संस्कृवति सामाजिक उत्थाऔन के लिए कितना प्रयोजनीय है।

इस गीतिका में साझा संस्कृउति के तत्वि भी सुरक्षित हैं, उन तत्वों पर वर्तमान में विमर्श करना समाज सापेक्ष है। इन तत्वोंत के वितान का सौंदर्य पूरी तरह से जीवन का सौंदर्य है, जीवन में सौंदर्य की महत्ता का बखान भी इस

गीतिका का ध्येाय रहा है। इस गीतिका की सीमाओं की चर्चा करते हुए यह कहना उचित है कि न केवल दिनेश चंद्र सेन ने इस परपंरा को आगे बढ़ाया बल्कि अपने कालखंड में राजेंद्र लाल मित्र, हर प्रसाद शास्त्रीं, रवीन्द्र नाथ टैगोर जैसे महान सर्जकों ने औपनिवेशिकता के खिलाफ भारतीय लोकतत्व् को स्थारपित करते हुए यह प्रमाणित किया कि भारत की सांस्कृतिक विरासत समृद्ध रही है। इस समृद्ध सांस्कृेतिक विरासत की प्रासंगिकता शाश्वंत है। इस सिलसिले में यह कहना अनुचित नहीं होगा कि राजेंद्र लाल मित्र, हर प्रसाद शास्त्रीं, रवीन्द्र नाथ टैगोर, दिनेश चंद्र सेन ने अपने-अपने तरीकों से साहित्यर और संस्कृपति को समृद्ध किया। राजेंद्र लाल मित्र ने नेपाल के संस्कृरत बौद्ध साहित्यस पर अनोखा काम किया, हर प्रसाद शास्त्री ने चर्यापद की खोज की, रवींद्र नाथ टैगोर ने लोकगीतों का संग्रह किया तथा दिनेश चंद्र सेन ने पूर्व बंगाल के गीतों का संकलन किया। इन महान सर्जकों के कार्यों पर नजर डालने से स्प ष्टग होगा कि भारत की सांस्कृजतिक विरासत भी थोथी और खोखली नहीं है। उन महान पुरुषों ने अपने अनुसंधान से यह भी प्रमाणित किया कि भारतीय जनमानस उपनिवेशवादी अभिमान के खिलाफ खड़ा था। उन महान मानवों ने अपने कार्यों के जरिये उपनिवेशवादी रवैया को समाज में स्थामपित किया। उन महान रचनाकारों के जीवन दर्शन से यह भी प्रमाणित होता है कि भारतीय जनमानस औपनिवेशिक संकीर्णता के विरुद्ध संघर्षरत था।

खासकर दिनेश चंद्र सेन ने अपने कार्यों के जरिये यह साबित किया कि बंगाल के पूर्वी हिस्सोंा में किस तरह गरीब किसान संघर्षरत थे। उन इलाकों में जीवन संघर्षपूर्ण रहा है। जिस तरह विभिन्न नदियों की विभीषिकाएं उन अंचलों में मानव जीवन के लिए मुख्य चुनौतियां बनी हुई थी, ठीक उसी प्रकार बाढ़ के प्रकोप, चक्रवातों के प्रभाव इत्यादि ने मानव जीवन को एक तरह से रसातल में मिला दिया। इसके बावजूद मानव समाज ने एकता और संघर्ष के जरिये सदा अमानवीयता के विरुद्ध संग्राम किया। 'मैमन सिंह गीतिका' की भूमिका में दिनेश चंद्र सेन ने इस विषय पर गंभीरता से विचार व्य क्तन किया है। इस भूमिका पर नजर डालने से यह बात सामने आती है कि भेदभाव और संकीर्णता के जरिये पिछड़ापन प्रकट होता है। इस पिछड़ापन के विरुद्ध मानव जाति को एकजुट होकर खड़ा होना पड़ता है। तभी जाकर समाज की विजयनी शक्ति सामने प्रकट होती है।

'मैमन सिंह गीतिका' की भाषा सरस है और इसमें संस्कृनत भाषा से किसी तरह का उधार नहीं लिया गया है। सच तो यह है कि 'मैमन सिंह गीतिका' की भाषा के जरिये महुआ, मदीना और कमला को गौरवान्वित किया गया है, इस प्रक्रिया के जरिये बंगला भाषा की शक्ति और सार्थकता भी समृद्ध हुई है। इससे यह भी प्रमाणित होता है बंगला भाषा प्राकृत के ज्यादिा करीब है। यह भी पता चलता है कि जीवन के संघर्ष मैदान में काम करने वाले भी गीतकारिता के जरिये महान साहित्य की रचना करते हैं ।जिस साहित्य में जीवनवादी सोच विद्यमान होता है। इस सोच का आधार प्रेम की स्वातंत्र इच्छा है और यही इच्छां शक्ति भाषा को सरल-सुबोध और मनोरम बनाती है। इस गीतिका की मिठास, जीवन सौंदर्य को नया आयाम देती है। इस गीतिका में प्रयुक्त रोजमर्रा के बोलचाल के शब्दोंव की सुंदरता कान में आकर गुनगुनाती है कि गहन मानवीय गुणों से ओत-प्रोत ही साहित्यिक सृजन का असली आधार है।

राजभाषा हिन्दी और तकनीकी अनुवादः एक मौलिक-विमर्श

डॉ पूरनचंद टंडन

निदेशक, भारतीय अनुवाद परिषद

अनुवाद सांप्रतिक युग की महती आवश्यकता है। अनुवाद वह सेतु है, जिसके द्वारा एक भाषा का पाठक दूसरी भाषा के ग्रंथ और ग्रंथकार से संपर्क स्थापित करता है, पर जिस प्रकार शिल्पी सेतु बनाने के पहले उसके उपयुक्त स्थल, नदी की गहराई व्यावहारिकता और साधन आदि की छानबीन कर लेता है, उसी प्रकार अनुवादक किस साहित्य और भाषा से, किस लेख के किस ग्रंथ का, किस प्रकार अनुवाद करे, इसकी जाँच-पड़ताल कर ही कार्य में प्रवृत्त होता है। इस तरह अनुवादक कर्म केवल साधना की ही नहीं, विशेषज्ञता की भी मांग करता है और आज के सूचना प्रधान तकनीक-उर्वर दौर में तकनीकी अनुवाद का क्षेत्र तो पूरी तरह विशेषज्ञता से जुड़ा हुआ है।

प्रस्तुत पुस्तक अनुवाद के महत्त्व तथा स्वरूप का तो आख्यान है ही, पर इसके साथ ही हिंदी में यह पहली बार तकनीकी अनुवाद की प्रक्रिया, प्रविधि और परिदृश्य की मुकम्मल प्रस्तुति है। दरअसल, काव्यानुवाद, नाट्यानुवाद आदि साहित्यिक अनुवाद-कर्म में तथा साहित्येतर अनुशासनों (विधि-न्याय, पत्रकारिता-संचार माध्यमों, वाणिज्य-बैंकिंग, विज्ञान-प्रौद्योगिकी, इंजीनियरी, तकनीक और कार्यालयी आदि) में अनुवाद के दृष्टि-बिंदु अलग-अलग होने चाहिएँ, पर अपने यहाँ अब तक अनुवाद के क्षेत्र में एक सर्वव्यापी सिद्धांत की ही सहमति खोजी जाती रही है। इस पुस्तक से यह स्पष्ट होता है कि अनुवाद की प्रकृति; प्रक्रिया और प्रकारों में विभेद होता है, अतः अनुवादक अपने अनुवाद-कर्म के साथ तभी न्याय कर सकता है, जब वह अनुवाद, उसमें अर्थ और भाव, शिल्प और शैली, वाक्य की संगत रचना, सही शब्द-निणर्य, तकनीक-निणर्य आदि का महत्त्व समझे।

इस पुस्तक में लेखक ने अनुवाद और भाषिक तथ्य, परिनिष्ठित हिंदी, अंग्रेजी के भौंडे अनुवाद, अशुद्धियाँ, बहुप्रचलित अशुद्धियों जैसे मुद्दों पर तो फोकस किया ही है, तकनीकी अनुवाद के व्यावहारिक ज्ञान के निकष पर भी खरा उतरने की भरपूर कोशिश की है। तकनीकी अनुवाद में शब्द निणर्य, तकनीकी अनुवाद में तकनीक-निणर्य, तकनीकी अनुवाद में भाषा का ज्ञान, तकनीकी अनुवाद में विषय का ज्ञान, तकनीकी शीर्षकों का अनुवाद, कंप्यूटर और अनुवाद तथा संकल्पनाओं का अनुवाद-दरअसल प्रस्तुत पुस्तक में विवेचित ये ऐसे शीर्षक हैं, जिन पर व्यावहारिक और ठोस शक्ल में पूर्व प्रकाशित कोई भी अनुवाद संबंधी कृति विचार ही नहीं करती पर रमेश चन्द्र ने उदाहरण दे-दे कर वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली-निर्माण के सिद्धांत, तकनीकी अनुवाद और अंतरण, लिप्यंतरण की समस्या तथा इनके समाधान की सही राह सुझाई है।

जाहिर है, संचार साधनों के बहुविध विकास के बाद अब भाषा का मामला चूँकि राष्ट्रीय मामला मात्र नहीं रह गया है, अतः आज भाषा के ढाँचे को तकनीकी जगत के ढाँचे के साथ-साथ बदलने की व्यावहारिक बुद्धि जगाने और अपनाने की जरूरत को भी प्रकारांतर से यह कृति प्रस्तावित करती है। लेखक का मानना है कि जिस तेजी से प्रौद्योगिकी का विकास हुआ, उसी तेजी से तकनीकी

अनुवाद के सशक्तीकरण के प्रयास नहीं हुए। इसीलिए प्रस्तुत कृति में लेखक की यह सायास कोशिश है कि वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग ने तकनीक अनुवाद के जो कुछ सिद्धांत, बिंदु रूप में निर्धारित किए हैं और पारिभाषिक शब्दावलियाँ बनाई हैं, उनको व्यावहारिक प्रचलन में तो लाया ही जाए, अनुवाद के दौरान उनकी महत्ता को भी दिगदर्शित किया जाए।

आज देश में राजभाषा हिंदी के कार्यान्वयन के दौरान आने वाली गंभीर समस्याओं में से एक है - संबंधित क्षेत्र-विषय में कोई उपयोगी पारिभाषिक शब्दावली का न होना और विभिन्न प्रांतों में प्रयुक्त शब्दों में एकरूपता का अभाव। इस कृति में रमेश चंद्र ने पारिभाषिक शब्दावली में देशज शब्दों की अनिवार्यता पर बल दिया है। लेखक की बिल्कुल सटीक मान्यता है कि भारतीय शब्दावाली के अभाव में देश में विज्ञान को लोकप्रिय बनाना असंभव है, क्योंकि ज्ञान-विज्ञान की मूल संकल्पनाओं का अनुभव सहज अनुभूति के आधार पर ही होता है और यदि अनुभूति अपनी भाषा में न हो, तो उसकी अभिव्यक्ति भी सहज होनी संभव नहीं होती।

आज अंग्रेजी से हिंदी के सर्वाधिक सामग्री अनूदित हो रही है और सर्वाधिक गलतियाँ भी अंग्रेजी हिंदी अनुवाद में ही दिखाई दे रही हैं। लेखक की यह मान्यता उचित है कि 'अनुवाद के समय अनुवादक के लिए विषय का ज्ञान भाषा के ज्ञान से अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। यदि उसे विषय का पूरा ज्ञान नहीं होगा, तो वह तकनीकी शब्दों का या तो कोई अर्थ ग्रहण करेगा और ऐसे सामान्य अर्थ का विषय से कोई संबंध नहीं होगा। फलस्वरूप अनूद्य सामग्री का विषय से संबंध टूट जाएगा और अनुवाद का प्रयोजन ही समाप्त हो जाएगा। ऐसी स्थिति में अनुवादक केवल शाब्दिक अनुवाद करेगा। न तो वह शब्द-चयन के लिए अपेक्षित विवेक का प्रयोग कर सकेगा, न ही शब्द-योजन, शब्द-कोप आदि संबंधी अपेक्षाओं पर खरा उतर सकेगा। नए शब्दों का निर्माण तो उसके लिए बहुत दूर की कल्पना होगी।'

इस कृति में लेखक ने तकनीकी अनुवाद की जटिलताओं को व्यावहारिक समाधान की अपूर्व भूमि उपलब्ध कराई है। भाषिक बारीकी से तकनीकी बारीकी तक की पूरी परिधि को समेटते हुए पुस्तक हिंदी की भौतिक-तकनीकी उपादेयता के नए पथ का संघान करती है। कुल मिलाकर, राजभाषा हिंदी की सशक्त स्थिति के लिए यह कृति एक सार्थक उपक्रम की तरह है। तकनीकी अनुवाद के विविध पहलुओं के बारीक विश्लेषण के साथ-साथ पत्रकारिता तथा कार्यालयी व्यवहार हेतु भी कई उपयोगी सूत्र यहाँ संयोजित हुए हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में तर्क है, तथ्य है, लेखक की भाषिक तत्परता की झलक है तो वहीं पैनी दृष्टि तथा सचेत समझ का सुमेल भी है। उदाहरणों का व्यापक समयायोजन पुस्तक की महत्ता को द्विगुणित करता है। १९२ पृष्ठों की यह पुस्तक अनुवाद-विज्ञान की नई रूप-रेखा तो निर्मित करती ही है, अनुवाद जगत् की खामोशी और उदासी को भी तोड़ती है।

ललित निबंधों में रचनात्मक अभिव्यक्ति के विविध आयाम

डॉ. बालकृष्ण राय

सहायक निदेशक
राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान

नोएडा, उत्तर प्रदेश

ललित निबंधों को रचनात्मक स्वरूप प्रदान करने के लिए रचनाकार को भाषा के ललित विधान की योजना करनी पड़ती है, उसके शब्द और वाक्य-विन्यास में भी लालित्य का सन्निवेश करना पड़ता है, बिंब, प्रतीक और मिथक के माध्यम से वह अभीष्ट कथ्य को व्यंजनागर्भी बनाता है, अलंकारों से मूर्तिमत्ता प्रदान करता है तथा मुहावरे और लोकोक्तियों के प्रयोग से लक्ष्णा की सारी संभावनाएं समेट ली जाती हैं। इस प्रकार ललित निबंधों का यह शिल्प साहित्य की अन्य गद्य विधाओं (उपन्यास, कहानी, नाटक, रेखाचित्र, संस्मरण) से सर्वथा पृथक स्वरूप धारण कर लेता है। इस प्रकार ललित निबंध की उन्मुक्त और यायावरीय प्रवृत्ति में भी अनेक शिल्पगत नियमितता है।

१. भाषा-सौंदर्य :- यदि हम भाषा-सौंदर्य को देखें तो ललित निबंधों को रागरंजित होने के लिए भाषा का अनुरंजनकारी होना आवश्यक है। डॉ. विद्यानिवास मिश्र ने ललित निबंध में निबंधकार द्वारा भाषा के सभी धरातलों पर उसकी अनुरंजनकारी संभावनाओं की खोज और अभिव्यक्ति के लिए नई भाषा की संरचना को अनिवार्य माना है। इसी प्रकार अज्ञेय ने ऐसे निबंधों को व्यक्तित्व और तदनुरूप भाषा की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम स्वीकार किया है।२ संक्षेप में ललित निबंधों की भाषा में अनुरंजन कारी संभावनाओं की खोज उसकी नई संरचना पद्धति के आधार पर की जा सकती है। इसके लिए शब्द चयन वाक्य विन्यास, प्रतीक बिंब मिथक आदि महत्वपूर्ण घटक होते हैं। ललित निबंध कारों में इनका समावेश किस प्रकार हुआ है, उसे इस प्रकार देखा जा सकता हैः-

(ग) शब्द चयनः- ललित निबंधकार अपनी उन्मुक्त प्रकृति के कारण शब्दों के चयन में भी लालित्य को बनाए रखना चाहता है। वह मुख्यतया कोमल वर्णों के प्रयोग से रचना करता है। जहां भावना प्रधान होती है वहां शब्दों में भी भावुकता का समावेश हो जाता है, परंतु जहां विचार देने की बात उठती है, वहां पर जिस भाव की अभिव्यक्ति अभीष्ट होती है वह उसी क्षेत्र के शब्दों से उपयुक्त शब्दों का चुनाव करता है। दार्शनिक मूल्यों की अभिव्यक्ति में शब्द दर्शन से संबद्ध हो जाएंगे और लोक संस्कृति विषयक मूल्यों के संदर्भ में शब्दों का चयन लोकजीवन से किया जाता है। विद्यानिवास मिश्र ने लिखा है, ' गाय के बछडवा बढ़ेंगे, खेतिहर देश की पशु संपत्ति बढ़ेगी।' इसी प्रकार कुबेरनाथ राय ने लिखा है, ' केवल चैत के महीने में जब पंक्तियां खड़खड़ करके झरने लगती हैं और सूखी पत्तियों के पथार पर बच्चे लोटने लगते हैं तो इसकी उपस्थिति का बोध होता है।'

नैतिक मूल्यों को अभिव्यक्त करते हुए अज्ञेय जी की यह पंक्ति द्रष्टव्य है, ' वास्तव में मनुष्य है बड़ा अहम्मन्य प्राणी और कुत्ते की स्वामिभक्ति का जो इतना बड़ा घटाटोप उसने खड़ा किया है वह वास्तव में उसकी अहम्मन्यता का ही प्रतिबिंब है। स्वामिभक्ति अर्थात मेरे प्रति भक्ति। कर्तव्यनिष्ठा अर्थात मेरे प्रति निष्ठा।'

यदि शब्द-चयन की दृष्टि से देखा जाए तो ललित निबंधकारों ने कथ्य के अनुकूल शब्दों का चयन किया है। उन्हें तत्सम, तद्भव, देशज, विदेशज में से किन्हीं शब्दों से परहेज नहीं है। आचार्य द्विवेदी तो रचयिता के भाषा प्रयोग विषयक लालित्य को विनायक धर्म कहते हैं।

मिश्र जी के अनुसार निबंधकार भाषा में अनेक संभावनाओं की खोज करता है। आचार्य द्विवेदी के एक 'देवदारु' निबंध के शब्दों को देखा जाए तो तत्सम शब्दों की पंक्ति में तद्भव शब्द, ध्वन्यर्थ व्यंजक शब्द ऐसे घुसे हुए हैं कि उनसे लेखक के कथ्य सहज अभिव्यक्ति हो जाती है - जहां भूत भगावन पंडित जी की कथा सुनाने लगे वहां दनादन, खचाखच, झमाझम आदि शब्दों के साथ अंग्रेजी का शब्द 'फर्स्ट हैंड इंफॉर्मेशन' भी जुड़ा हुआ है। इस प्रकार ललित निबंधों में सहज, सरल, ललित , प्रसंगानुकूल , भावानुकूल अर्थात सभी तरह के शब्दों के प्रयोग से लालित्य की सृष्टि की गई हैत

(ग) वाक्य विन्यास - ललित निबंधों में प्रायः साधारण वाक्यों का प्रयोग मिलता है। पर गंभीर विषयों के विवेचन में, भावानुकूल क्षणों में संयुक्त और मिश्र वाक्य आ जाते हैं। द्विवेदी जी अपने निबंध 'अशोक के फूल' का प्रारंभ एक साधारण वाक्य से करते हैं - 'अशोक में फूल आ गए हैं।' लेकिन ललित निबंधों में साधारण वाक्यों के नियमित विधान से ही काम नहीं चलता, अन्विति भंग की आवश्यकता पड़ती है, उदाहरणस्वरूप, 'सब अपने मतलब के प्रिय होते हैं। संसार में जहां कहीं प्रेम है सब मतलब के लिए। सुनके हैरानी होती है। दुनिया में त्याग नहीं है, पदार्थ नहीं है, परमार्थ नहीं है - है केवल प्रचंड स्वार्थ।'

ललित निबंधों की भाषा में सर्वाधिक वाक्य उल्लास, आश्चर्य,स्वाभिमान, श्रद्धा, आदर, फक्कड़पन, दैन्य, करुणा आदि के भावार्थ को सूचित करते हुए प्रयुक्त हुए हैं। लेखक के आंतरिक व्यक्तित्व से जो भाव जुड़ा होगा वही निबंध में आएगा। आचार्य द्विवेदी के निबंधों में उल्लासार्थक वाक्य प्रश्नात्मक वाक्य; विद्यानिवास मिश्र के निबंधों में चिंतनार्थक एवं भक्ति-सूचक वाक्य और कुबेरनाथ राय में क्षोभ बोधक, आक्रोश बोधक अधिक वाक्य मिलेंगे। कुछ उदाहरण देख सकते हैं,

द्विवेदी जी ने लिखा है, 'मेरा मन पूछता है - किस ओर? मनुष्य किस ओर बढ़ रहा है? पशुता की ओर या मनुष्यता की ओर? अस्त्र बढ़ाने की ओर या अस्त्र काटने की ओर? मेरी अबोध बालिका ने मानो मानव मनुष्य जाति से ही प्रश्न किया है - जानते हो नाखून क्यों बढ़ते हैं। यह हमारी पशुता के अवशेष हैं। मैं पूछता हूं - जानते हो यह अस्त्र-शस्त्र क्यों बढ़ रहे हैं? यह हमारी पशुता की निशानी है।' इसी प्रकार के अन्य उदाहरण ललित निबंधों में देखे जा सकते हैं।

अतएव शब्द-चयन एवं वाक्य-प्रयोग दोनों का रूप ललित निबंधकारों में विचारात्मक निबंधकारों से सर्वथा पृथक है। उसके शब्द और वाक्य उसके व्यक्तित्व से रंजित होने के कारण प्रसंगानुसार सरलता और जटिलता का स्वरूप धारण करते हैं। विचारात्मक निबंधकार जिस प्रकार गंभीरता के कारण एक-दूसरे से गुंथे व्यक्ति निरपेक्ष वाक्य से अपनी बात कहता है, वैसी स्थिति ललित निबंधकारों की नहीं होती। यदि व्यक्तित्व विनोदी या हास्यपरक हुआ तो वाक्य वैसे ही बन जाएंगे। जैसे देवदारु का वर्णन करते करते 'हड्डी पसली चूर-चूर हो जाने' का प्रसंग आने पर वाक्य-गठन उसके अनुरूप परिवर्तित हो जाएगा। इसीलिए एक ही ललित निबंध में अनेक वाक्य-गठन देखे जा सकते हैं।

वाक्य-विन्यास के संदर्भ में एक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि ललित निबंधकारों में गद्य की छंदमयता है वह चाहे छोटे वाक्यों से आए या वाक्य के अन्विति भंग से आए। यही छंदमयता निबंधकार की वैयक्तिकता है। 'देवदारु' के सौंदर्य का वर्णन करते-करते दिवेदी जी देशज एवं तद्भव विशेषणों की लंबी सूची देते हुए प्राणवेगी गद्य का प्रयोग करते हैं, 'मगर कुछ लोग ऐसे होते हैं कि उन्हें 'सबै धान बाइस पसेरी' दिखते हैं। वे लोग सबको एक ही जैसा देखते हैं। उनके लिए वह खूंसट, वह पाधा, वह सनकी, वह झबरैला, वह नटखटा वह चौरंगी, सब समान है।'

कुटज के एक वर्णन में भी छंदमयता से उत्पन्न सौंदर्य का दर्शन किया जा सकता है, 'छोटा सा, बहुत ही ठिगना पेड़। पत्ते चौड़े भी हैं, बड़े भी हैं। फूलों से तो ऐसा लदा है कि कुछ पूछिए नहीं। अजीब सी अदा है, मुसकराता जान पड़ता है। लगता है वह पूछ रहा है कि क्या तुम मुझे भी नहीं पहचानते? पहचानता तो हूं उजाड़ के साथी, तुम्हें अच्छी तरह पहचानता हूं। नाम भूल रहा हूं। प्रायः भूल जाता हूं। रूप देखकर पहचान जाता हूं, नाम नहीं याद आता।'

निर्धारित क्रम-परिवर्तन से भी वाक्य-विन्यास में सौंदर्य-सृष्टि की जाती है। जैसे, 'अभागे हैं वे जो चिरइया की वह पहली बोली एक क्षण भी न सुन पाए हैं, वह बोली, जो अवनि और अंबर के समवेत जागरण की संयुक्त घोषणा है, जो अवनीश से उठती है और अंबर में भर जाती है।'

(गग) मुहावरे और लोकोक्तियां - ललित निबंधकार भारतीय संस्कृति से गहरे रूप से जुड़े हुए हैं इसलिए लोकोक्तियों का अक्सर प्रयोग दिखाई पड़ता है। उदाहरणस्वरूप, 'न ऊधो का लेना न माधो का देना।' या

'हिसाब लगाने बैठे तो दिल डूबने लगता है।' ऐसे प्रयोग साभिप्राय हुए हैं तथा मुहावरे के प्रयोग से लक्ष्यार्थ की सिद्धि होती है अलंकृत वर्णन से सौंदर्य उत्पन्न होता है।

(ग्न) उपमाओं का नूतन प्रयोग - कुछ स्थानों पर ललित निबंधों में अलंकृत भाषा का प्रयोग हुआ है पर उसमें रसमयता का मूल कारण है, यत्र-तत्र उपमाओं का नूतन प्रयोग। इससे अभिव्यक्ति में नवीनता आई है, जैसे -

'मेरा मन अधभूले इतिहास के आकाश में चील की तरह मंडरा रहा है, कहीं कुछ चमकती चीज नजर आई नहीं कि झपट्टा मारा।' (आम फिर बौरा गए)

'जरा सी हवा चली नहीं कि अस्थिमालिका वाले उन्मत्त कापालिक भैरव की भांति खड़खड़ा कर झूम उठते हैं।' (वसंत आ गया है)

२. मिथक - हिंदी के ललित निबंधों को प्राणवंत बनाया गया है - मिथकों के प्रयोग द्वारा। आचार्य द्विवेदी मिथक को 'गप्प' की संज्ञा देते हुए भाषा को स्वच्छंद विचरण का सशक्त माध्यम मानते हैं - 'आजकल हम लोग ऐतिहासिक युग में जीने का दावा करते हैं। पुराना मनुष्य मिथकीय युग में रहता था। जहां वह भाषा के माध्यम को अपूर्ण समझता था वहां मिथकीय तत्वों से काम लेता था। मिथक भाषा की अपूर्णता को भरने का प्रयास है। आज भी क्या हम मिथकीय तत्वों से प्रभावित नहीं हैं? भाषा बुरी तरह अर्थ से बंधी हुई है। उसमें स्वच्छंद संचार की शक्ति क्षीण से क्षीणतर होती जा रही है। मिथक स्वच्छंद विचरण करता है। आश्चर्य होता है भाषा का, अभिव्यक्त करता है भाषातीत को। मिथकीय आवरणों को हटाकर उसे तथ्यानुयायी अर्थ देने वाले लोग मनोवैज्ञानिक कहलाते हैं, आवरणों की सार्वभौम रचनात्मकता को पहचानने वाले कला समीक्षक कहलाते हैं।' इस प्रकार भाषा आवरणों से आवृत्त होती है। रचनाकार उन्हें हटाकर सार्वभौम रचनात्मक तत्व की सृष्टि करता है

ललित निबंधकारों में कुबेरनाथ राय ने मिथकों का सर्वाधिक प्रयोग किया है। उनके द्वारा लिखित पुस्तकों के नाम भी मिथकीय हैं, जैसे - गंधमादन, विषाद योग, पर्ण मुकुट, कामधेनु आदि। उन्होंने अपनी भूमिकाओं में इस तथ्य की पुष्टि की है कि उन्होंने 'ॐ', 'शिव' और 'राम' के मिथकों में ही भारतीयता का संधान किया है, 'लगता है यह संपूर्ण धरती ही श्रीचक्र है। चारों ओर निस्तब्धता की नदी मंद-मंद बिना शोर के बह रही है। उसी की धारा के बीच मैं अकेले-अकेले इस सृष्टि के श्रीचक्र पर बैठा हूं।'

३. प्रतीक विधान - ललित निबंधों में प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति को प्रमुखता दी गई है। चाहे वह प्रकृति पर निबंध हो या संस्कृति से संबद्ध विषय हो, सर्वत्र निबंधकारों ने प्रतीक रूप में रूप में उन्हें प्रस्तुत किया है। जैसे, 'नाखून' पाशवी प्रवृत्ति का प्रतीक है क्योंकि पशु इनका प्रयोग हिंसा हेतु करते हैं। वैसे ही 'चंद्रमा' अपनी शीतलता एवं मोहकता के कारण सौंदर्य का प्रतीक है।

अज्ञेय मनुष्य और पशु का अंतर इस प्रकार करते हैं, ' मानव केवल विवेकशील प्राणी ही नहीं है। पशु और मानव में मौलिक अंतर यह है कि मानव प्रतीक श्रष्टा प्राणी है। मानव प्रतीकों की सृष्टि कर सकता है। यह बात उसे पशु से और भी महत्वपूर्ण ढंग से अलग करती है और यह उसके सारे सांस्कृतिक और प्रातिभ विकास का प्रारंभिक बिंदु है।'

हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने ललित निबंधों के शीर्षक को प्रतीकात्मक रूप में व्यक्त किया है। उदाहरणस्वरूप - (ग) अशोक के फूलः सामंत सभ्यता की परिष्कृत रूचि का प्रतीक।

(ग) मेरी जन्मभूमिः समस्त जातियों के सांस्कृतिक इतिहास का प्रतीक।

(ग्ग) शिरीष के फूलः अवधूत का प्रतीक। (ग्न) कुटजः अपराजेय जीवनी शक्ति का प्रतीक।

इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि द्विवेदी जी ने प्रकृति के उपादानों का गहराई से निरीक्षण किया, उसके सौंदर्य को निहारा और उसे एक शक्ति स्रोत के रूप में व्यक्त किया। प्रतीक के रूप में प्राकृतिक उपादानों को ग्रहण करना तो मात्र बहाना होता है। वस्तुतः उसके सहारे व्यापक जीवन-दर्शन अथवा मूल्य-दृष्टि प्रस्तुत करना लक्ष्य होता है। विद्या निवास मिश्र ने नए प्रतीकों को ग्रहण किया तथा उनकी नई व्याख्या भी की। जैसे - 'चंद्रमाः समस्त सौंदर्य और जीवन के विशेष अमृत तत्व का प्रतीक।', 'गंगाः जातीय जीवन के क्रमिक विकास की प्रवहमान कथा का प्रतीक।'

इसी प्रकार कुबेरनाथ राय ने प्राचीन पात्रों को प्रतीक के रूप में चित्रित कर नवीन अभिव्यक्ति प्रस्तुत की है। यहां जटायु शांतिप्रिय जीवन का प्रतीक है जबकि त्रेता अपराजित हृदय का प्रतीक।

४. बिंब - ये भी मुख्यतः काव्य के प्रमुख उपादान हैं पर ललित निबंधों में भी इस तरह के विवरण उपलब्ध हो जाते हैं जिनमें बिंबधर्मिता आ जाती है। आचार्य द्विवेदी ने

बिंब विधायिनी भाषा का प्रयोग कर सौंदर्य सृष्टि की है। एक उदाहरण इस प्रकार है, ' कोमल हाथों में अशोक-पल्लवों का कोमलतर गुच्छ आया, अलक्तक से रंजित नूपुरमय चरणों में मृदु आघात से अशोक का पाददेश आहत हुआ - नीचे हल्की रुनझुन और ऊपर लाल फूलों का उल्लास।' कुबेरनाथ राय ने तो मिथकों के भीतर से बिंब को निकालकर उसकी रूपकात्मक व्याख्या की है। उन्होंने स्वयं लिखा है, ' कामधेनु में भारतीय संस्कृति की अस्मिता को उद्घाटित करने वाले बेमबो, यथा कामधेनु, देवी, नटराज, श्री देवता आदि को लिया गया है और उनकी मूल्यपरक एवं विमिश्रित पद्धति में विवेचना की गई है। ये बिंब 'भारतीयता' की पहचान हमारे लिए सुगम करते है।'

५. शैली - ललित निबंध की स्वच्छंद प्रकृति के कारण शैलीगत वैविध्य स्वाभाविक है। विभिन्न निबंधकारों ने अनेक शैलियों का आश्रय लेकर रचना में लालित्य पैदा किया है। शैली रचयिता की अभिव्यक्ति का माध्यम है, जिसके द्वारा वह अपने विचारों, भावों और कल्पना को शब्दों के आवरण में रूपायित करता है। सामान्य तौर पर हम निम्नांकित छह प्रकार की शैलियों का प्रयोग देखते हैं -

(क) वर्णनात्मक शैली - इस शैली में यथातथ्यता के साथ-साथ कल्पना की उड़ान और विचारों की सहजता घुलमिलकर चलते हैं। द्विवेदी जी के शिरीष के फूल, अशोक के फूल; विद्यानिवास मिश्र के अमरकंटक की शांति स्मृति आदि अनेक निबंध इसी के अंतर्गत शामिल किए जाएंगे। निबंधकारों की वर्णनात्मक शैली में भी भावुकता और आत्मीयता संपृक्त है। साथ ही विचार के संस्पर्श से शैली रमणीय एवं आकर्षक बन गई है।

(ख) भावात्मक शैली - व्यक्तित्व की उन्मुक्तता के कारण ललित निबंधों में यह शैली प्रमुख रूप से पाई जाती है, इसे तरंग शैली भी कहा जाता है वर्णन करते-करते रचनाकार कवि सदृश भावना के प्रवाह में डुबकी लगाने लगता है। द्विवेदी जी के अधिकांश निबंध, जैसे - नाखून क्यों बढ़ते हैं, ठाकुर जी की बटोर; मिश्र जी के नर नारायण; शिवप्रसाद सिंह के रसमादन आदि निबंध इस शैली के अच्छे उदाहरण हैं।

(ग) विचारात्मक शैली - ललित निबंधों में अनेक स्थलों पर विचारात्मक शैली का प्रयोग हुआ है तथा लालित्य के साथ मानव मूल्यों की स्थापना की गई है। मिश्रजी का चंद्रमा मनसो जातः, और द्विवेदी जी के नाखून क्यों बढ़ते हैं, देवदार आदि निबंध इस शैली के सशक्त उदाहरण हैं।एक उदाहरण है - '

(घ) हास्य व्यंग्यात्मक शैली - हास्य और व्यंग्य के माध्यम से ललित निबंधकारों ने एक ओर मानव मूल्यों की स्थापना की है तो दूसरी और व्यवस्था पर कुठाराघात किया है। हरिशंकर परसाई, शरद जोशी एवं रवीन्द्रनाथ त्यागी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। निबंधकारों ने जीवन की विद्रूपताओं पर बेबाक प्रहार किया है। उदाहरणस्वरूप, रवींद्रनाथ त्यागी ने 'गणतंत्र दिवस की शोभायात्रा' निबंध में समाज की चरमराती व्यवस्था को प्रकट करने के लिए एक विस्तृत चित्र खड़ा किया है और तथाकथित संभ्रांत वर्ग की पोल खोली है, उनकी कर्तव्यहीनता पर तीखा प्रहार किया है।

(च) संवादात्मक शैली - ललित निबंधकारों ने इस शैली के माध्यम से नाटकीयता, रोचकता एवं सरसता का संचार किया है। द्विवेदी जी का 'एक कुत्ता और एक मैना' निबंध इसी शैली पर आधारित है। शिवप्रसाद सिंह ने तो 'जेहि मन पवन न संचरै' निबंध में अपने 'मैं' को तीन भागों में बांटकर अच्छे संवादों की सृष्टि की है और अनेक मूल्यों को स्थापित करने की कोशिश भी की है।

(छ) पत्रात्मक शैली - इस शैली के द्वारा भी अनेक निबंधों में विभिन्न विचारधाराओं को प्रस्तुत किया गया है। उदाहरण के लिए, 'भ्रमरानंद के पत्र' पुस्तक के सभी निबंधों में संपादक के नाम पत्र के द्वारा विचार या दर्शन प्रकट हुआ है। इसी प्रकार कुबेरनाथ राय का 'मणिपुत्तुल के नाम' निबंध भी इसी शैली का अच्छा उदाहरण है।

स्पष्ट है कि ललित निबंधकारों ने विभिन्न शैलियों को ग्रहण करते हुए अपने निबंधों की सृष्टि की है। अदिक स्वच्छंदता के फलस्वरुप एक ही निबंध में कई शैलियां आती रहती है। वस्तुतः घटना-संयोजन के क्रम में उचित स्थान पर उपयुक्त शैली को माध्यम बनाया गया है। महत्वपूर्ण बात यह है कि शैलियों के सुंदर नियोजन से अभिव्यकि सशक्त एवं प्रभावशाली बन गई है। साथ ही सर्वत्र रोचकता के कारण लालित्य या सौंदर्य का सृजन हुआ है।

अनामिका और कत्यायनी की कविताओं का तुलनात्मक अध्ययनः

'दूब- धान' और 'सात भाइयों के बीच चंपा' के विशेष संदर्भ में

डॉ. किंगसन सिंह पटेल (एसोसिएट प्रो.)

रेखा मौर्या (शोध छात्रा)

हिन्दी विभाग, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी -२२१००५
मोबाइल नम्बर - ८३२०३८३५९०, ७३५५२०७००५

समकालीन हिंदी साहित्य की स्त्री लेखन की परंपरा में अनामिका और कात्यायनी महत्वपूर्ण लेखिकाएं हैं। इन्होंने बड़े बेबाक ढंग से अपनी बातों को कविताओं के माध्यम से व्यक्त किया है। अनामिका स्त्री विमर्श की महत्वपूर्ण मौलिक उपन्यासकार और अलोचक के रूप में सामने आती हैं। इन्होंने अपनी कविताओं में पितृसत्तात्मक समाज की वर्जनाओं से उत्पन्न यातनाओं की दुःसह्यता और संघर्ष का सूक्ष्म चित्रण किया है। इसके साथ ही इन्होंने वर्तमान समय की भयावहता से बच्चों पर होने वाले दुष्परिणामों, दलित जाति की त्रासदियों को, जीवन की व्यस्तता और उदासी से घिरे मध्यवर्ग का बहुत ही सटीक वर्णन किया है।

'२००७' में प्रकाशित अनामिका का 'दूब-धान' कविता संग्रह पांच खंड़ों में विभाजित है। इस खंड के केंद्र में स्त्री है। इसमें 'गृहलक्ष्मी' श्रृंखला की २८ कविताओं में से ११ कविताएँ ऐसी हैं, जिनमें मध्यवर्गी स्त्री की विडंबनाओं और विवशताओं को चित्रित किया है। इसके साथ ही इन्होंने प्रकृति और ग्राम्य संस्कृति से भी सम्बन्धित कई कविताएं इस संग्रह में लिखी हैं।

समकालीन हिंदी की स्त्री कविता में कात्यायनी का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण एवं विशिष्ट है। ये जिन बिंदुओं पर अपनी कविताएं लिखती हैं, उस तरह के विषय शायद ही अन्य कवयित्रियों के यहाँ उपस्थित हों। राजनीतिक सक्रियता के दौरान महंगाई, बेरोजगारी और भविष्य में लड़ने की उम्मीद इनकी कविताओं का प्रमुख स्वर है। कात्यायनी की कविता में स्त्री अस्मिता को लेकर दर्जन से अधिक कविताएँ हैं, जो उनके दुःख दर्द, शोषण आदि के खिलाफ आवाज उठाती हैं। इसके साथ ही इन्होंने प्रेम और प्रकृति से जुड़े॰ सवालों पर कई कविताएं लिखी है।

'सात भाइयौं के बीच चंपा' १९९४ ई० में प्रकाशित कात्यायनी का पहला काव्य संग्रह है। जिसमें कुल ६६ कविताएं संकलित हैं, जिसको इन्होंने ६ शीर्षकों में संयोजित किया है। इन कविताओं में लगभग १६ कविताएं ऐसी हैं, जिनका संबंध स्त्री की सामाजिक स्थिति तथा उनकी आजादी से है। इस कविता संग्रह में कुछ ऐसी भी कविताएँ हैं, जिनमें नारी जीवन के सबसे कोमल पक्ष -प्रेम, मातृत्व तथा जीवन और प्रकृति के उदात्त पक्ष अभिव्यक्त हुए हैं।

दोनों ही लेखिकाएँ स्त्री विमर्श की मौलिक व्याख्याता के रूप में सामने आती हैं। इन्होंने स्त्री जीवन के विविध पक्षों को न केवल उद्घाटित किया है वरन् उसकी जिन्दगी में सुधार के रास्ते भी प्रस्तावित किए हैं। अनामिका की कविताएँ भारतीय परिवारों के भीतर स्त्री की दुखद स्थिति का आईना है; जहाँ पारिवारिक संबंधों में पति, मित्र न होकर मालिक होता है और पत्नी क्षमा और धैर्य की प्रतिमूर्ति बन उसकी सेवा में उपस्थित चौबीसों घंटों की सेविका है-

"हाँ, तुम्हारा पिन-कुशन हूँ-
हर नुकीली बात मेरे हृदय में भोंककर
फासलों की फाइलें बढ़ाते हुए
अर्दली से मांगते हो एक ठंडा ग्लास!"

उपरोक्त पंक्तियाँ 'पवित्र दाम्पत्य' संबंधों में स्त्री-मन की वेदना को उद्घाटित करती हैं। जहाँ पति-पत्नी साथ रहते हुए भी फासले की जिन्दगी जीते जाते हैं। इतनी प्रताड़ना सहकर भी भारतीय स्त्री की विडम्बना यह है कि स्त्री घर की परिधि को

छोड़कर जाना नहीं चाहती! घर के बाहर जीवन की कोई संभावना न पाकर वह घर में रहकर ही सब कुछ सहने को विवश रहती है। अनामिक की 'गृहलक्ष्मी' श्रृंखला की २८ कविताओं में सें ११ कविताएँ ऐसी है, जिसमें घरेलू स्त्रियों के शोषण एवं उत्पीड़न का दारूण चित्रण है। 'श्रृंखला की कड़ियाँ' में महादेवी वर्मा जी ने स्पष्ट कहा है- ''पत्नीत्व की अनिवार्यता से विद्रोह करके अनेक सुशिक्षित स्त्रियाँ गृहस्थ जीवन से बाहर निकलना नहीं चाहतीं, क्योंकि उन्हें भय रहता है कि उनके सहयोगी (पति) उनके स्वतंत्र व्यक्तित्व को एक क्षण भी सहन नहीं कर सकेंगे।' '

कात्यायनी ने भी अपनी कविताओं में गृह-कारावास भोगती नारी का यथार्थ चित्रण किया है।

''एक दिन
मृत्यु की प्रदेश में प्रवेश से पूर्व
एक बार पीछे मुड़कर देखती है स्त्री
जीवन की ओर
वहाँ सब कुछ शांत है
मृत्यु की ओर
स्त्री के
प्रस्थान के बाद
स्त्री पीछे मुड़ती है
प्रचण्ड वेग के साथ
अपने हाथों आग लगा देती है,
राख कर देती है
वह सब कुछ
जिसे
लोग कहा करते है
भरा-पूरा जीवन!''

स्त्री मुक्ति के संदर्भ में नारी आज परंपरागत रीति-रिवाजों और रूढ़ियों को दरकिनार कर स्वतंत्र रूप से निणय ले रही। वह आज माता-पिता को आर्थिक रूप से संबल और सुरक्षा प्रदान कर रही है। आज के संघर्षपूर्ण युग में नारी अपनी स्थिति को कमतर आंकने को बिल्कुल तैयार नहीं है। अनामिका नारी विमर्श को बिल्कुल नए रूप में- 'आम्रपाली', 'रत्ना', 'भामती' के मिथक को आज की कसौटी पर कसकर दिखाने का प्रयत्न करती हैं। भामती और राधा की बेटियां उत्तर-आधुनिक युग की बेटियां हैं, जो घर-बाहर दोनों जगह अपनी भूमिका निभाते हुए मुक्ति के लिए प्रयासरत हैं। इस संदर्भ में कात्यायनी की कविताओं पर गौर किया जाए तो 'सात भाइयों के बीच चंपा', 'हॉकी खेलती' लड़कियाँ', 'इस स्त्री से डरो' जैसी कविताएं इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं-

''लड़कियां
पेनाल्टी कॉर्नर मार रही हैं
लड़कियां पास दे रही हैं
लड़कियाँ गोल-गोल चिलाती हुई
बीच मैदान की ओर भाग रही हैं
लड़कियां एक-दूसरे पर ढह रही हैं
एक-दूसरे को चूम रही हैं।''

पितृसत्ता की चुनौतियों के बीच स्त्री स्वर को मुखर अभिव्यक्ति देने में अनामिक एवं कत्यायनी की क्रांतिकारी भूमिका रही हैं। कानूनी तौर पर घर पुरूष का होता है और उसे सम्भालने, संवारने तथा देखभाल की जिम्मेदारी स्त्री की होती है। किन्तु घर, परिवार और विवाह को बनाए रखने की जिम्मेदारी केवल स्त्री पर ही डाली जाए, यह तो उचित नहीं? घर और परिवार के प्रति इस समझ से अनामिका की कविताएँ विद्रोह करती है-

''खुद को ही सानती
खुद को ही गूंधती हुई बार-बार
खुश है कि रोटी बेलती है जैसे पृथ्वी।''

पितृसत्तात्मक व्यवस्था ही परिवार के कानून और पांरपरिक मान्यताओं के द्वारा स्त्री को अनुकूलित करती है। कात्यायनी की कवताओं पर गौर किया जाए तो यह प्रतीत होता है कि वह बाप-भाई की कड़ी निगरानी के बाहर, समाज की खोखली मान्यताओं को धता बताती अपना स्पेस ढूंढ रही है। 'सात भाइयों के बीच चंपा', 'हॉकी खेलती लड़कियां', जैसी कविताएं इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

एंगेल्स ने आधुनिक वैयक्तिक परिवारों की स्थिति का आकलन करते हुए कहा था- ''आज अधिकतर परिवारों में पुरुषों को जीविका कमानी पड़ती है और परिवार का पेट पालना पड़ता है, इससे परिवार में उसका आधिपत्य कायम हो जाता है और उसके लिए किसी कानूनी विशेषाधिकार की आवश्यकता नहीं पड़ती। परिवार में पति बुर्जुआ होता है और पत्नी सर्वहारा की स्थिति में होती है।'' घरेलू श्रम को श्रम के रूप में नहीं गिना जाता। जिसके कारण घर के नित्य के कार्य जैसे- धूल झाड़ना, चूल्हा-चौका करना, बच्चे पालना आदि से स्त्री का सहज स्वाभाविक संबंध स्वतः ही जुड़ जाता हैं।

अनामिका और कात्यायनी ने जितनी कुशलता, स्पष्टता से नारी जीवन को उकेरा है उतनी ही भाव- प्रवणता से मानव

मन की पीड़ा को भी समझा है। उनका मानना है कि बदलते परिवेश तथा बढ़ती अराजकता से मानव जीवन छिन्न-भिन्न हो गया है। अहंकार, अपनी स्थिति से असंतोष, निरर्थक चिंताओं का जाल, एकाकीपन, संघर्षों का अधिक्य तथा सबसे प्रमुख अपनी नगण्यता का अनुभव मानव-मन को पीड़ित करने का प्रमुख कारण है। अनामिका कहती है कि परिवर्तित समय में जहां विकास के साधन हुए है वहीं बेरोज़गारों की संख्या में भी अपार वृद्धि हुई है। उनका जीवन कॉल सेंटर के 'घघर-पचर-सा रतजगा' जैसा जीवन है। वह अपने जीवन के अनंत खालीपन में भाँति- भाँति के 'भरम' पाल लेता है-

'दरअसल ऐसा है,
मैंने नहीं पाले भरम-वहम,
ठठा खड़ा रखा है इन्होंने ही मुझको,
इन्होंने ही मुझको पाला है।'

मनुष्य रोज़- रोज़ के जीवन में समय के संकट से टकराते है और उन चुनौतियों को स्वीकारते है, जूझते-जीते है। एक सामान्य थके हारे, संघर्षरत इंसान के लिए छुट्टियों के दिन का क्या महत्त्व है? इसे कात्यायनी ने बड़ी कुशलता से 'छुट्टियों के दिन' कविता में दिखाया है। क्योंकि इस अस्त- व्यस्त जीवन में उसे सोचने- समझने का समय ही नहीं मिलता। आधुनिक सभ्य मनुष्य आधी छुट्टियाँ तैयारी करने में, तनावों-उलझनों को भूलाने में खर्च कर देता है-

'आधी छुट्टियां हम ख़र्च करेंगे
छुट्टियां बिताने की तैयारी में
चिन्ता की चिन्दियां उड़ाने में
तनावों-उलझनों को भुलाने में
यात्रा के सरंजाम जुटाने में। और आधा छुट्टियां ख़र्च
करेंगे छुट्टियां बिताने।'

अनामिका और कात्यायनी की कविताओं में समकालीन स्त्री जीवन शैली को समझने के साथ-साथ समाज,परिवेश और परिस्थिति को बेहतर बनाने की चेष्ठा व निष्ठा है। आज हम समय के एक ऐसे दौर से गुज़र रहे, जहाँ पर सर्वत्र अन्याय, अत्याचार, शोषण, उत्पीड़न और लैंगिक असमानता का बोलबाला है। अनामिका ने आज के समय की मिथ्या सामाजिकता पर कटाक्ष किया है। हम जिनसे प्यार नहीं करते, सबसे ज्यादा प्यार से, सभ्यता से उन्हीं के साथ पेश आते हैं, सारी औपचारिकताएं निभाते है- नमस्कार, माफ़ कीजिये, धन्यवाद आदि मुलायम शब्दों का प्रयोग करते है-

'इनसे टिककर पल में खर्राटे भरती है कटुताएं,
जग ही नहीं पातीं मुई अपेक्षाएं-
एक बार जो इनको छू भी लें
जिनसे हम करते है प्यार मगर-
उन पर चलाते है दोधारी तलवार।'

अनामिका जी ने प्रत्यक्ष रूप से राजनीति पर कविताएं नहीं लिखी परंतु स्त्री, समाज और घर-परिवार की स्थितियों के वर्णन में कहीं-कहीं राजनीतिक व्यवस्था पर इन्होंने भी कटाक्ष किया है।

कात्यायनी समाज में होनें वाले अन्याय, कुरीतियों और छल- कपट को देखकर विचलित और आक्रोशित हो जाती है तथा उस पर निर्भीकता से प्रहार करती है। आज समाज में अनेक लोग ऐसे है जो समस्त दायित्व से दूर, मात्र अपने सुख-सुविधा के साधन एकत्र करने में लगे रहते है। कोई तनाव-चिंता न करना, ऊपरी कमाई से महंगाई की आंच से बचना, गंभीर साहित्य जैसे कविता आदि से बचना, सामाजिक समस्याओं पर शाम की गोष्ठियों में मात्र बोलने के लिए बोलना भली-भाँति आता है। इस प्रकार के आडंबरपूर्ण महानगरीय समाज में अकर्मण्य व्यवस्थापकों से संवेदना, उदारता एवं समानता की मात्रा आशा ही होती है। सामान्य जन इसी आशा में अपना पूरा जीवन बिता देते है जबकि व्यवस्थापक सामान्य जन की आशा-निराशा, स्वप्न-जागरण से कोई सरोकार नहीं रखता। 'नयी ईश वंदना', 'यदि हम यहां नहीं होते तो', 'जीना', 'ऐसा किया जाए कि', 'धॅसो! धॅसो! जल्दी धॅसो!' आदि कात्यायनी की कितनी ही कविताएं है; जो समय, समाज और परिवेश को लेकर एक संवेदनशील मन की सहज प्रतिक्रियाएं है।

स्त्री कविता में कात्यायनी की उपस्थिति इस अर्थ में विशिष्ट है की उनकी तरह राजनीति पर संभवतः किसी अन्य स्त्री रचनाकार ने कविताएं नही लिखीं। कात्यायनी की कविता पूंजीवाद, फा.सीवाद और सांप्रदायिक ताकतों पर आक्रामक प्रहार करती है और यह स्वर स्त्री कविता में अत्यंत विरल है-

'मौत की दया पर
जीने से
बेहतर है
ज़िन्दा रहने की ख़्वाहिश
के हाथों मारा जाना!'

अनामिका ने भी बहुत सी राजनीतिक कविताएं लिखीं है, लेकिन कात्यायनी की तरह सक्रिय राजनीति पर कविताएं नहीं लिखीं। कात्यायनी की कविताएं सामाजिक-राजनैतिक कार्यकर्ता के रूप में भी सत्ता के तंत्र से लोहा लेती है।

समाज परिवेश और पारिस्थिति के स्तर पर विचार किया जाए तो सामाजिक प्रतिबद्धता दोनों कवयित्रियों की सबसे बड़ी विशेषता रहीं है। किंतु अनामिका के बरक्स कात्यायनी की कविताएँ बहुसंख्यक आम लोगों के जीवन की साधारण लगने वाली घटनाओं को पिरोकर दुःख-दर्द बयां करती है।

माहवारी स्त्री की प्रकृति प्रदत्त प्रक्रिया है। स्त्री देह के इस विशेषता को अशुद्ध बताते हुए नारी को पूजा स्थलों पर प्रवेश वर्जित करने पर अनामिका तीव्र प्रहार करती है-

'ईसा मसीह
औरत नहीं थे
वरना मासिक धर्म
ग्यारह वर्ष की उम्र से
उनको ठिठकाये ही रखता
देवालय के बाहर।'

स्त्री की शारीरिक संरचना ही उसे समाज में शोषितों की श्रेणी में लाकर खड़ा कर देती है। स्त्री का होना हीं उसके प्रति होने वाले यौन अपराधों का कारण बनता है। उसे दोयम दर्जे का प्राणी होने को स्वाभाविक बना देता है। तसलीमा नसरीन ने भी अपनी पुस्तक 'औरत के हक में' मन्दिर-मस्जिद में स्त्री के प्रवेश निषेध को पुरुष सत्तात्मक समाज की एक साजिश मानती है। ऋतुमति होना एक लड़की का स्रष्टा बनने की प्रक्रिया का वह लक्षण और परिवर्तन है, जिसके बिना वह गर्भ धारण नहीं कर सकती। लेकिन पुरुष वर्ग क्या, स्वयं स्त्री भी इस विषय पर बात नहीं करना चाहती। कात्यायनी की कविताओं में स्त्री का प्रकृति प्रदत्तयह शोषण दिखाई नहीं देता है। वे स्त्रियों की पीड़ा, संघर्ष और परिस्थितियों से भली- भाँति अवगत हैं परंतु उनकी दृष्टि इन दैहिक समस्याओं से कही दूर स्त्री के जीवन को विकास की ओर ले जाने की है। यहीं कारण है कि उनकी रचनाएं स्त्रियों की दशा पर मात्र आंसू नहीं बहाती, वरन् दृढ़ता से उस जड़ता और शोषण से बाहर निकलने का आह्वान भी करती है।

अनामिका और कात्यायनी की कविताएं संवेदना और भाषा दोनों स्तर पर अपनी गहरी एवं सूक्ष्म विचारधारा को प्रस्तुत करती है। इनका भाषिक परिदृश्य अत्यंत व्यापक है। शब्दों के चयन पर विचार किया जाए तो अनामिका की कविताओं में अंग्रेजी शब्दों की अधिकता है। 'टीचर', 'प्लेटफॉर्म', 'टेलीफोन', 'बस टिकट', 'फाइव स्टार', 'एक्सपर्ट', 'ओपिनियन', 'बाई वन गेट वन फ्री' आदि अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग अनामिका ने अपनी कविताओं में बखूबी किया है। केवल अंग्रेजी ही नहीं संस्कृत के तत्सम, तद्भव तथा लोक भाषा का भी खूब प्रयोग किया है। लोकभाषा और लोक-संस्कृति से जुड़े भाव-प्रवण शब्द एक जीवंत चित्र उपस्थित करते हैं। देशज शब्दों की छुअन, उसकी गरमाहट, सोंधी महक तथा अर्थ अभिव्यंजना की शक्ति अनामिका की कविताओं की मौलिक उपलब्धि हैं-

'आलि, आयी बसन्त ऋतु की बहार
आलि, कूकत कोयल बार-बार,
झूम-झूमकर नाचन लागीं,
हरियाईं सब बेलरियां,
पिया बिदेस अबहूं नहिं आये-
सहा न जात सखि, दुःख अपार!'

कात्यायनी की अधिकतर कविताओं में संस्कृत के तत्सम, तद्भव शब्दों का प्रयोग खूब हुआ है; जैसे- 'अग्नि', 'प्रचंड', 'निर्भीक', 'आत्मा', 'मानुषी' आदि। केवल संस्कृत ही नहीं हिंदी एवं अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग में भी कात्यायनी सजग दिखती हैं। भाषा के प्रयोग में अनामिका की कविताओं में जहाँ अंग्रेजी शब्दों का अधिक्य है वहीं कात्यायनी की कविताएँ संस्कृतनिष्ठ अधिक हैं।

अनामिका और कात्यायनी की कविताओं में शैलीगत विविधता है। आत्मकथात्मक शैली, संवाद शैली, प्रश्न शैली का प्रयोग दोनों रचनाकारों ने बखूबी किया है। कात्यायनी की तुलना में अनामिका के पास शैलीगत वैविध्य अधिक है। अनामिका की कविता में आत्मानुभव भी अधिक है। उनकी अधिकांशतः स्त्री केन्द्रित कविताओं में 'मैं' ही सम्बोध्य है-

'मै कैसेरॉल की अन्तिम रोटी हूं!
कैसेराल में ही मै बन्द रही हूं अब तक!'
और
'मैं चूड़ी बाज़ार हूं हैदराबाद का'

उपरोक्त समानता-असमानता एवं विविधता के बावजूद दोनों रचनाकारों की कविताएँ बहुत सशक्त हैं। कुछ वैषम्य को छोड़कर देखे तो दोनों की कविताओं में स्त्री दृष्टि एवं अभिव्यक्ति लगभग एक जैसा हैं। इन्होंने स्त्री जीवन के विविध पक्षों को न केवल उद्घाटित किया है वरन सुधार के प्रति भी अपनी संवेदना व्यक्त की है। व्यापक दृष्टि, गहरी अनुभूति और जन जीवन की छोटी से छोटी अनुभूतियों और साधारण सी प्रतीत वस्तुओं का जितना सुंदर चित्रण इन दोनों स्त्री रचनाकारों की कविताओं में मिलता है वह उन्हें हिन्दी काव्य जगत में मौलिक एवं विशिष्ट रचनाकार के रूप में प्रतिष्ठित करता है।

चित्रा मुद्गल के उपन्यास आवां में स्त्री जीवन की समस्याएँ

डॉ नीलम कुमारी

सहायक आचार्य,
हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी - २२१००५
Email:drnilam18@gmail.com
M.+919453641788

सार संक्षेप - व्यास सम्मान से सम्मानित हिन्दी की अत्यन्त प्रतिष्ठित कथा लेखिका चित्रा मुद्गल जी द्वारा सन् १९९९ में बहुचर्चित उपन्यास 'आवां' लिखा गया जिसका अब तक आठ भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। चित्रा मुद्गल हिन्दी साहित्य की उन लेखिकाओं में से एक हैं जिनका साहित्य स्त्री-विमर्श का महत्त्वपूर्ण आधार है। स्त्री-विमर्श आवां के कथ्य का मूल हिस्सा है। इस उपन्यास में मूलतः स्त्री जीवन की समस्याएँ हैं, इसमें मुख्यतः कामगर स्त्री की समस्या है। आवां उपन्यास में घर से बाहर निकली कामकाजी स्त्री को समाज के शोषण का शिकार होना पड़ता है कभी यह शोषण बलपूर्वक किया जाता है तो कभी स्त्री को प्रेम-पाश में फँसाकर। स्त्री को फँसाने के लिए पुरुष हर तरह के हथकण्डे अपनाता है। स्त्री से जुड़े अनेक प्रश्नों को इस उपन्यास के माध्यम से लेखिका ने सामने रखा है। स्त्री को अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए खुद खड़ा किया है। आवां उपन्यास स्त्री के संघर्ष की गाथा है इस उपन्यास में लेखिका ने जिस आवां को प्रस्तुत किया है, वह सदियों से सुलग रहा है और नारी समाज भी उसमें सुलग रहा है जिसकी आँच आज भी वैसी है जैसे पहले थी। चित्रा मुद्गल ने स्त्री को देह से ऊपर उठकर पहचानने की बात की है और इस उपन्यास में उसे एक संकल्प और प्रतिज्ञा के रूप में पुरुष समाज के सामने रखने का दायित्व उठाया है।

मुख्य शब्द - आवां, कामगार आघाड़ी, श्रमजीवी संस्था, ट्रेड यूनियन, दरबेनुमा चाल, झोपड़पट्टी, लोकल ट्रेन।

प्रस्तावना - १० दिसम्बर १९४४ को मद्रास (वर्तमान चेन्नई) में हिन्दी की अत्यन्त प्रतिष्ठित कथा लेखिका चित्रा मुद्गल जी का जन्म हुआ। उनका बचपन निहाली खेड़ा गाँव में व्यतीत हुआ। उनके दादा ठाकुर बजरंग सिंह उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले के निहाली खेड़ा नामक गाँव के ज़मींदार थे। उनके पिता का नाम ठाकुर प्रताप सिंह था। वे भारतीय नौसेना में उच्च पद पर अधिकारी थे। उनका स्थानान्तरण बम्बई, चेन्नई, विशाखापत्तनम, गोवा आदि देश के विभिन्न स्थानों में हुआ करता था, जिसके कारण चित्रा जी को देश के अलग-अलग हिस्सों के लोगों की जिन्दगी का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करने और उन्हें समझने का पर्याप्त अवसर मिला। उनके पिता पूरी तरह सामंती संस्कार के व्यक्ति थे। किसी की इच्छाओं और भावनाओं को समझना उनकी प्रवृत्ति में नहीं था। परन्तु लेखिका चित्रा मुद्गल का जीवन किसी रोमांचक प्रेमकथा से कम नहीं रहा है। उन्नाव के ज़मींदार परिवार में जन्मी एक लड़की के लिए साठ के दशक में अन्तरजातीय प्रेम विवाह करना आसान नहीं था लेकिन उन्होंने यह साहस कर दिखाया। इसके बाद उन्हें

सामाजिक और निजी जीवन में तमाम कठिन रास्तों से गुजरना पड़ा ।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य में चित्रा मुद्गल का विशिष्ट स्थान है । हिन्दी की स्वातंत्र्योत्तर कथा लेखिकाओं में चित्रा जी ऐसी लेखिका हैं, जिनकी रचनाओं में अद्भुत संतुलन और पारदर्शिता है । बदलते सामाजिक परिवेश में चित्रा मुद्गल का साहित्य यथार्थवादी साहित्य का बहुमूल्य दस्तावेज है । उन्होंने अपनी गहरी जन-संवेदना को अपने साहित्य में पूरी ईमानदारी से व्यक्त किया है । मानवीय चेतना और उनकी संवेदनाओं की स्वतंत्र मौलिक अभिव्यक्ति चित्रा मुद्गल का सबसे बड़ा कर्म और जीवन दर्शन है । समकालीन यथार्थ को वह जिस अद्भुत भाषिक संवेदना के साथ अपनी कथा-रचनाओं में परत दर परत अनेक अर्थ छवियों में अन्वेषित करती हैं वह चकित कर देने वाला है । पितृसत्तात्मक दृष्टिकोण से प्रभावित चित्रा मुद्गल की सुदीर्घ रचना यात्रा भारतीय मनीषा का प्रतीक है । उनके लेखन की गरिमा उनके विचारधारा को एक अलग आयाम देती है । उनकी रचनाओं में जीवन की सच्चाई बिना किसी अलंकरण के देखी और परखी जा सकती है । जीवन के द्वन्द्व और संघर्षों के विषय में उनकी निर्भय लेखनी सहज ही अपनी ओर आकर्षित करती है । जीवन के आंतरिक द्वन्द्व को उन्होंने अधिक महत्त्व दिया है । वैचारिक दृढ़ता और जीवनानुभव की ऐसी अभिव्यक्ति कम ही लेखिकाओं में देखने को मिलती है । आठ भाषाओं में अनूदित बहुचर्चित उपन्यास 'आवां' के लिए चित्रा मुद्गल को सन् २००३ में बिड़ला फाउंडेशन का 'व्यास सम्मान' मिला था, वे तेरहवां 'व्यास सम्मान' पाने वाली देश की प्रथम महिला लेखिका हैं । यह उपन्यास १९९९ में सामयिक प्रकाशन से प्रकाशित हुआ । यह २८ भागों में विभाजित, ५४४ पृष्ठों वाला एक वृहद उपन्यास है । यह उपन्यास अपनी विषय-वस्तु में बहुआयामी है । लेखिका ने इस उपन्यास में निम्न, मध्य और उच्च तीनों वर्गों के खोखलेपन का विडम्बनात्मक स्थितियों का बड़ा प्रभावकारी चित्रण किया है । यह उपन्यास बीसवीं सदी के सांस्कृतिक, सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं को पूरे प्रभाव के साथ उभारता है । वर्तमान समय की उपलब्धियाँ तथा भौतिक सुख-साधन किस प्रकार मनुष्य के लिए आवश्यक प्रतीक बन गए हैं और किस प्रकार उनकी पूर्ति के लिए उनका अधःपतन हो रहा है - यही इस उपन्यास का मूल प्रतिपाद्य है । अपनी सन्दर्भगत बहुलता तथा स्त्री-जीवन के बहुस्तरीय शोषण का अति विराट फलक पर पर्दाफाश करने वाली यह अपने ढंग की अप्रतिम औपन्यासिक कृति है ।

'आवां' उपन्यास के कथ्य के केन्द्र में स्त्री है । 'आवां' उपन्यास में मूलतः स्त्री जीवन की समस्याएँ हैं, इनमें भी मुख्यतः कामगार स्त्री की समस्या है । इस उपन्यास में अपने परस्पर विरोधी दोनों वर्गों को समान्तर रखते हुए कथा का ताना-बाना बुना गया है । एक ओर महानगर मुम्बई के मील मजदूरों के बुनियादी और कानूनी अधिकारों की माँग से उत्पन्न टकराहटों का वृतांत है साथ ही उन्हीं मजदूरों के निजी जीवन के कोमल और करुण प्रसंगों की अनगिनत कथाएँ । मेहनतकश आजादी के संघर्षों को नेतृत्व प्रदान करने वाले मध्यमवर्गीय नेताओं की आपसी प्रतिद्वन्द्वता, उनकी चरित्रगत विकृतियाँ आदि न जाने कितने घिनौने रूपों का विस्तार से खुला और बेधड़क वर्णन किया गया है दूसरी ओर आम जनता की मेहनत पर पूँजी का खेल खेलने वाले धनाढ्य लोग हैं । पाँच सितारा संस्कृति परस्त कुलीनतावादी हैं, फैशन और मुक्ति परस्त उपभोक्तावादियों के सुनियोजित षड़यन्त्र, सौदेबाजी और बेईमानी है । 'आवां' में उनकी इच्छाओं, कुण्ठाओं और क्रूरताओं का बेहिचक खुलासा है । कला, संस्कृति और उसके निर्यात के योग में जिस्म-फरोशी, शरीर की सोदेबाजी तब खुलती है जब तेरह लाख मजदूरों के समर्थ नेता अन्ना साहब की हत्या के खबर से नमिता का गर्भपात हो जाता है तब फोन पर सहानुभूति या प्रेम की जगह आभूषण निर्यातक संजय कनोई उसे धमकाते हैं । नमिता इस आघात को सहने की शक्ति कहाँ से लाती है ? वह अनब्याही लड़कियों की तरह आत्महत्या या नारी निकेतन का रास्ता नहीं चुनती है । उसके पास श्रमजीवी संस्था, कामगार आघाड़ी संस्था और महिला मोर्चा जैसी संस्थाओं की शक्ति है ।

नमिता पांडे उपन्यास की कथा का केन्द्रीय पात्र है । उसे कथा नायिका कह सकते है । वह मजदूर देवीशंकर पांडे की बेटी है । उसके पिता 'बिटरम ग्लास फैक्टरी' में मजदूर थे और अन्ना साहब के दाहिने हाथ भी, साथ ही उनके 'कामगर आघाड़ी' संस्था के सचिव भी, उन पर

जानलेवा हमला हुआ जिससे वह अपाहिज बने । फैक्टरी उनके जिम्मेदारी से हाथ झाड़ लेती है, पगार बन्द हो जाती है । अन्ना साहब और आघाड़ी उनके इलाज का बन्दोबस्त करते हैं पर घर के खर्चे? घर की सारी जिम्मेदारी नमिता पर आ गई और यहीं से शुरु होता है नमिता का संघर्ष और अपनी अस्मिता का बोध, अपने सम्मान की रक्षा, विचारों की दृढ़ता और अपनी इच्छाओं को जिन्दा रखने के साथ अपनी स्त्री देह को चील कौओं से बचाए रखने की जद्दोजहद । सुन्दर और व्यवहार से सौम्य बीस वर्षीय नमिता की बी.ए. की पढ़ाई छूट जाती है । अब उसे पिता की सेवा सुश्रूषा का काम भी करना पड़ता है उसकी माँ श्रमजीवी संस्था में पापड़ बेलकर अपनी कमाई करती है । नमिता भी घर की आमदनी में योगदान के लिए पापड़ तो बेलती ही है, साड़ियों में फाल टांकती और ट्यूशन भी पढ़ाती है । भाई-बहन की देखरेख के साथ घर-गृहस्थी भी चलाती है । ऐसी स्थिति में अन्ना साहब की कृपा से अपने पिता के स्थान पर काम करने के लिए डेढ़ हजार रुपये पर काम करने के लिए तैयार हो जाती है । अन्ना साहब उसके साथ अश्लील आचरण करते है- 'पिता नहीं, पिता जैसा हूँ । तुम्हारे देह से कोई खिलवाड़ नहीं करूँगा । अपने देह से तो कर सकता हूँ ।'१ नमिता अन्ना साहब के इस प्रकार के आचरण से तंग आकर नौकरी का परित्याग कर देती है ।

चित्रा मुद्गल ने निहायत वस्तुनिष्ठता से रचनात्मक धरातल पर विभिन्न चरित्रों के क्रियाकलापों को उजागर किया है । प्रायः इन क्रियाकलापों से जो ऊपरी तौर पर दिखता है वह यथार्थ नहीं है, यथार्थ वह है जो सब के समक्ष नहीं आता है परन्तु इसे लेखिका अनेक माध्यमों से रेखांकित करती हैं[४] । अन्ना साहब की असलियत अपनी बेटी तुल्य नमिता पांडे के साथ किए गए उनके विकृत मानसिक यौन दुराचार से उजागर होती है ।

नमिता की मुलाकात अंजना वासवानी से होती है तो वह नमिता से कहती है- 'कठिन परिस्थितियों में नौकरी का लोभ छोड़ पाना स्वाभिमानी व्यक्ति के बूते की बात है । तुम सचमुच बहुत साहसी लड़की हो ।'२ अंजना वासवानी के यहाँ नौकरी नमिता के लिए एक अलग दुनिया के द्वार खोल देती है लेकिन उस दुनिया में निरन्तर फँसते चले जाने के दौरान भी आघाड़ी और पवार से उसका संपर्क बना रहता है जो पिता के मृत्यु के कठिन समय में और भी गहरा होता है । संगठन के सदस्यों द्वारा अनेक कष्ट उठाकर की गई निःस्वार्थ सहायता उसे संगठन की महत्ता के एक अन्य पक्ष से परिचय कराता है उधर अपनी नई नौकरी के नये संपर्को में संजय कनोई उसे आकर्षित करने लगता है । अंजना वासवानी और उसकी आभूषण कंपनी में नमिता को वह स्नेह और प्यार मिलता है जो उसे पहले कभी नहीं मिला । उसे अपने व्यक्तित्व और योग्यता पर विश्वास होने लगा । पहले अंजना वासवानी के आभूषणों के प्रदर्शन के लिए संजय और निर्मला कनोई के समक्ष मॉडलिंग करती है और फिर संजय कनोई की कंपनी के कैटलॉग के लिए मॉडलिंग कर एक मॉडल बनकर एक नई दुनिया में पहुँच जाती है जहाँ वह बहुत प्रशंसा पाती है और भरपूर पारिश्रमिक भी अर्जित करती है । नमिता का सानिध्य पाने के लिये संजय अपनी पत्नी की बुराई करता है और उधर पवार के साथ अपने संभावित रिश्ते में पवार द्वारा बैठाए गए जातिगत वोटों के गणित को जानकर पवार से अलग हो जाती है तथा संजय कनोई को मन ही मन प्रेम करने लगती है । अंजना वासवानी उसे प्रशिक्षण के लिए हैदराबाद भेजती है जहाँ संजय कनोई उससे मिलने आता है । दोनों एक-दूसरे को चाहने लगते हैं और वह काफी करीब आ जाते हैं । कुछ महिनों के बाद डॉ. वनजा नमिता को बताती है कि- 'तुम गर्भवती हो... तुम्हारा चौथा महिना पूरा हो पाँचवा आरम्भ होने जा रहा है ।'३ नमिता संजय को बताती है कि वह इस बच्चे को जन्म नहीं देना चाहती है तब संजय कहता है 'न... तुम मेरे बच्चे को हाथ नहीं लगाओगी तेरह साल बाद ... मैं बाप बना हूँ ।'४

संजय कनोई को हर हाल में बच्चा चाहिए अपना बच्चा । संजय अपनी पत्नी को तलाक देकर उससे विवाह करने का वादा करता है लेकिन तुरन्त शादी भी नहीं करता है और न तो उसका गर्भपात करवाने के लिए ही तैयार होता है । इस तरह यहाँ भी पुरुष तंत्र है जिसका स्त्री के कोख पर नियंत्रण है । नमिता रखैल बनकर नहीं रहना चाहती है ऐसे में नमिता बहुत मुश्किल दौर से गुजर रही है वह निर्णय नहीं ले पा रही है इसी बीच नमिता के लिए मुम्बई से पवार का फोन आता है । पवार नमिता को बताता है कि अन्ना साहब की हत्या हो गई है

। इस हादसे का उसे इतना गहरा सदमा लगता है कि उसका गर्भ अपने आप गिर जाता है । नमिता संजय को गर्भपात की घटना बताती है । संजय बौखला जाता है और कहता है, 'झूठी.... प्राण ले लूँगा मैं तुम्हारे... मुझे मेरा बच्चा चाहिए... बच्चा... जानती हो ? बाप बनने के लिए मैंने तुम्हारे ऊपर कितना खर्च किया । उस मामूली औरत अंजना वासवानी की औकात ही क्या है कि तुम्हारे ऊपर पैसा पानी की तरह बहा सके ? उसका जिम्मा बस इतना भर था कि वह मेरे पिता बनने में मेरी मदद करें । सौदे के मुताबिक वह अपना कमीशन खाए । वह ऐसी पचासों लड़कियों को परोस सकती थी । केवल पचहत्तर हजार में मुझे बाप बना सकती थी.... मैं रंडियों से बाप नहीं बनना चाहता था... मुझे नहीं गंवारा थी ऐसी किराये की कोख, मुझे सिर्फ उस लड़की से औलाद चाहिए थी, जो पेशेवर न हो... पवित्र हो जो मुझसे प्रेम कर सके । सिर्फ मेरे लिए माँ बने । तेरह वर्ष बाद मैं बाप बना... अपने बच्चे का बाप । उस औरत से सचमुच प्यार करने लगा । उसी ने.... उसी ने मुझे धोखा दिया । मेरे बच्चे की जान ले ली । मुझे बाप बनाकर तुम जीवन भर ऐशोआराम से रह सकती थी ।'५

यह नई दुनिया सारे ऐशोआराम को उपलब्ध कराने वाली दुनिया है, उपभोक्तावादी सुखभोगवाद जो वस्तुतः पशुवाद है और इस पशुवाद की बर्बरता को बढ़ावा देने वाली दुनिया है । मैडम वासवानी से अनायास ही मिलना नमिता को इस दुनिया में पहुँचा देती है और शुरु होता है एक औरत के लिए गढ़े गए नरक का एक और आख्यान । नमिता को धरती से उठाकर एक दम आसमान में पहुँचा दिया जाता है । अपने इस नरक से अनजानी उसके सम्मोहन में डूबी वह अपने भाग्य को सराहती है । वह एक मॉडल बनती है और इसी बीच संजय कनोई से भी मिलती है । इस करोड़पति व्यापारी का उस पर फेंका गया सम्मोहन जाल, अपनी कोख में संजय के बीज-अंश का अहसास, संजय के सानिध्य में भावी जीवन की रंगीनियों के सपने बहुत कुछ घटित होता है कथा के प्रवाह में नमिता के साथ परन्तु अनायास हुआ गर्भपात उस नरक की सारी भयावहता को उसके समक्ष खोलकर रख देता है । जिसके सम्मोहन में वह अब तक डूबी हुई थी । संजय कनोई के साथ-साथ यहाँ अंजना वासवानी का भी सच उजागर होता है जो गरीब लड़कियों को उनके मदद का बहाना बनाकर उन्हें सपने दिखाकर किसी अमीर के बिस्तर तक पहुँचा देती है । नमिता मॉडलिंग छोड़कर कामगार आघाड़ी लौट रही है लेकिन वहाँ फिर कोई अन्ना साहब, पवार नहीं टकराएगा । ऐसा जरूरी नहीं है इसके लिए उसे सचेत रहना पड़ेगा । आवां की भूमिका में चित्रा मुद्गल कहतीं हैं- 'स्त्री की क्षमता को उसकी देह के ऊपर उठकर स्वीकार न करने वाले रूढ़-रूग्णवाले समाज को बोध कराना आखिर किन कंधों का दायित्व होगा ?'६

लेखिका ने इस उपन्यास में स्त्रियों से जुड़े अनेक प्रश्नों को रखा है । इसमें लेखिका ने घर और घर से बाहर हो रहे औरत के शोषण को एक साथ रेखांकित किया है । नारी पात्रों की भरमार है और हर पात्र की अपनी-अपनी कहानी है । इस उपन्यास की सबसे दुखद उपकथा है सुनंदा की । सुनंदा एक मुस्लिम युवक सुहैल से प्रेम करती है । वह सुहैल के बच्चे की माँ है - कुंआरी माँ ! वह सुहैल से विवाह करना चाहती है लेकिन सुहैल के माँ-बाप की यह शर्त है कि विवाह करना है तो - 'सुनंदा को इस्लाम कबूलकर अपना नाम बदलना होगा ।'७ अर्थात धर्म परिवर्तितकर मुस्लिम बनना पड़ेगा । परन्तु सुनंदा शादी करने के लिए धर्म बदलने को राज़ी नहीं है - 'सुहैल ने प्रेम करने के समय तो कोई शर्त नहीं रखी ? ब्याह करना होगा तो उससे नहीं, इस्लाम से करना होगा... या उसे हिंदुत्व से ?'८ वह हिन्दू-मुस्लिम एकता को धर्म से ऊपर देखना चाहती है । उसने सुहैल से स्पष्ट कहा था - 'चलो, हम कोर्ट मैरिज कर लें, दोनों ओर के आडम्बरों से मुक्त ।'९ किन्तु अंततः न्याय मिलने के स्थान पर धर्मांधता और साम्प्रदायिकता के कारण उसकी हत्या कर दी जाती है ।

स्मिता और गौतमी की उपकथाएँ साहसी और विद्रोही नारी के प्रभावशाली उदाहरण हैं । अपने दैहिक सुख और यौन-सम्बन्धों के मामले में वे पुरुषों से भी आगे हैं साथ ही स्मिता की हिम्मत, ईमानदारी तथा स्पष्टवादिता एक संघर्षशील स्त्री का एक नया उदाहरण प्रस्तुत करती है । वहीं दूसरी तरफ वेश्याओं को उनके पेशे से अलगकर उन्हें मीलों और कारखानों में काम दिलवाया जा रहा है । परन्तु सभी मजदूरों के दिलों में समाज-सेवा का भाव नहीं है । इसलिए वे वेश्याओं को समुचित नारी-सम्मान नहीं

देते । उन्हें वेश्या ही मानकर उनके साथ देह-सुख पाने की कोशिश करते हैं । इस दुष्कृत्य में वे मजदूर भी शामिल हैं, जो अपने शोषण के विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं । अपने पेशे से अलग होकर सामान्य जीवन जीने की इच्छुक और प्रयत्नशील इन वेश्याओं के जीवन की यहाँ भी दुर्दशा होती है । एक विराट फलक पर रचित इस कृति में पात्रों और उनकी अन्तर्कथाओं की भरमार है लेकिन मुम्बई की ट्रेड यूनियनों, दरबेनुमा चालों, झोपड़पट्टी और लोकल ट्रेन का परिवेश इन सबके बिना संभव नहीं था । हर पात्र का अपना व्यक्तित्व और अपनी भाषा है । पवार की भाषा में अकड़ और मुँहफटपन है तो अन्ना साहब की भाषा नपी-तुली । संजय कनोई रोमॉस से भीगे संवाद बोलता है तो सिद्धार्थ मेहता दो-टूक व्यापार की भाषा में बात करता है साथ ही जहाँ स्त्री पात्र बोलती हैं वहाँ घरेलूपन है ।

विद्वानों के अनुसार 'आवां' तीन प्रकार की सृजनात्मक दृष्टियों का उपन्यास है । एक है 'कामगार आघाड़ी' जो एक ट्रेड यूनियन है और पूरी रचना में हर अध्याय में यह कामगार आघाड़ी इस प्रकार हस्तक्षेप करता है जैसे वह पूरे उपन्यास की चेतना हो । दूसरा स्त्री संगठन है 'श्रमजीवी' । पापड़ बेलने वाली या घरेलू उद्योगों को संचालित करने वाला यह संगठन दूसरा हस्तक्षेप है । यदि एक का वर्चस्व केन्द्र पुरुष है तो दूसरे का वर्चस्व केन्द्र स्त्री है । तीसरा संगठन 'जागौरी' जो वेश्याओं से सम्बन्धित है जिन्हें अधिक सभ्य भाषा में कहें तो सेक्स वर्करों का संगठन है । यहाँ आकर चित्रा मुद्गल जी ने सर्जनात्मक विचलन किया है । यहाँ न पुरुष वर्चस्व है, न स्त्री वर्चस्व है । यहाँ वर्चस्व है एक भाव संवेग का और यहाँ की केन्द्रीय वस्तु है व्यथा जो किसी जघन्य मजबूरी से शुरु होती है और किसी अगम्य अपराध की आग में झुलसकर करुण अंत होता है । दो जगह मनुष्य पात्र हैं जो अपने-अपने परिवेश और स्थिति में संचालित होते हैं । तीसरी जगह मनुष्य पहचान विलुप्त है बल्कि उसकी जगह देह के आवेग और आवेश काम करते हैं । यदि रवीन्द्रनाथ टैगोर की भाषा में कहें तो दो जगह 'महाशय' है तो तीसरी जगह सिर्फ 'आशय' और आवां की सर्जनात्मक कुशलता का यह श्रेष्ठतम आयाम है ।'१०

कथाकार बलराम लिखते हैं - 'उपन्यास 'आवां' स्त्री-विमर्श का वृहत आख्यान है, जिसका देश काल तो उसके पहले उपन्यास 'एक जमीन अपनी' की तरह साठ के बाद का मुम्बई ही है लेकिन इसके सरोकार उससे कहीं ज्यादा बड़े हैं, सम्पूर्ण स्त्री-विमर्श से भी ज्यादा श्रमिकों के जीवन और श्रमिक राजनीति के ढेर सारे उजले-काले कारनामों तक फैले हुए जिसकी जमीन भी मुम्बई से लेकर हैदराबाद तक फैल गई है, उसमें दलित जीवन और दलित-विमर्श के भी कई कथानक अनायास ही आ गए हैं । इस रूप में इसे आज के स्त्री-विमर्श के साथ-साथ दलित-विमर्श का महाकाव्य भी कह सकते हैं जिसे लिखने की प्रेरणा चित्रा मुद्गल को मुम्बई में जिए गए अपने युवा जीवन से मिली ।'११ आवां का बीज चाहे मुम्बई ने रोपा हो लेकिन खाद-पानी उसे हैदराबाद से मिला और श्रमिकों के शहर कोलकाता में बैठकर लिखा गया तो दिल्ली ने आधा कैंव्प का काम किया । इस रूप में यह लगभग पूरे भारत का प्रतिनिधित्व करने वाला बड़े फलक का हिन्दी उपन्यास है।सही अर्थों में एक बड़ा उपन्यास जिसमें लेखिका की सम्पूर्ण अनुभव-संपदा काम आई है । इस उपन्यास में दलित पवार और ब्राह्मण नमिता के पारस्परिक आकर्षण के माध्यम से यदि दलित-विमर्श जैसे विषय पर चर्चा की गयी है तो नमिता के पिता देवीशंकर पांडे की अनब्याही दूसरी पत्नी किशोरी बाई के माध्यम से पर-पुरुष से किये गये प्रेम को दिखाया है और किशोरी बाई की बेटी सुनंदा का सुहैल से प्रेम हिन्दू-मुस्लिम विवाह की समस्या को प्रकट करता है ।

उपसंहार

वरिष्ठ कथाकार चित्रा मुद्गल अपने पूरे लेखन में अपने समय के ज्वलन्त प्रश्नों से टकराती हैं, उन प्रश्नों और समस्याओं को एक दिशा देने की कोशिश के साथ अपने लेखन की प्रासंगिकता को स्थापित करने के लिए सचेत भी रहती हैं । हिन्दी साहित्य में महिला उपन्यासकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से भारतीय नारी की विभिन्न समस्याओं को समाज के सामने रखा है । पुरुष प्रधान सामाजिक व्यवस्था में स्त्री का हो रहा शोषण और इस शोषण से मुक्ति के लिए स्त्री छटपटा रही है । परम्परा एवं रूढ़ियों को तोड़ना चाहती है । अपने अधिकार के लिए संघर्षरत स्त्री सफलता प्राप्त करना चाहती है । स्त्री के इसी संघर्ष को प्रेरणा देने के लिए अनेक महिला कथाकारों

ने अपनी रचनाओं के माध्यम से सशक्त महिला पात्र चित्रित किये हैं। चित्रा मुद्गल हिन्दी साहित्य की उन लेखिकाओं में से एक हैं जिनका साहित्य स्त्री-विमर्श का महत्त्वपूर्ण आधार है ।

चित्रा मुद्गल ने स्त्री को देह से ऊपर उठकर पहचाने की बात की है और इस उपन्यास में उसे एक संकल्प और प्रतिज्ञा के रूप में पुरुष समाज के सामने रखने का दायित्व उठाया है । आदर्श मर्यादाओं और मूल्य सब को सहेजकर जीवन की आखिरी सांस तक बिना उफ्फ किए चलते जाना ही उसकी नियति बन गई, जरा सी गलती के लिए कड़े से कड़ा नियम भी उसी के लिए बनाया गया । चित्रा मुद्गल एक स्त्री है और स्त्री की इस नियति को वे अच्छे से जानती और समझती हैं। इसी कारण से आवां में उन्होंने स्त्री के अस्तित्व से जुड़े सवालों को प्राथमिकता दी है । पूरे चेतन दायित्व के साथ, खतरों के पूरे अहसास के साथ उन्होंने स्त्री के इस नरक को सोच समझकर प्रकट किया है । स्त्रियों के नरक से मुक्ति की बात, देह से ऊपर उसे पहचाने जाने का सवाल, तेज-तर्रार नारे बाजी करके नहीं बल्कि मुक्ति के इस प्रकार के सारे अवरोधों, परम्पराओं से चली आ रही संस्कार-लब्धता को खोलकर रख देने वाले चरित्रों के माध्यम से कहती है । चित्रा मुद्गल ने नमिता पांडे को किसी भी रूप में अपना प्रवक्ता नहीं बनाया है । जिन नारी चरित्रों को उन्होंने उभारा है उसे यह बताने के लिए उभारा है कि स्त्री मुक्ति का सवाल देह के ऊपर उठकर पहचाने जाने का सवाल है । एक मनुष्य के रूप में औरत को स्वीकार करने का सवाल आज भी कितना जटिल है वह इस उपन्यास से स्पष्ट होता है । एक आवां है जिसमें औरत तप और तप ही रही है, राख बन रही है और कहीं कुछ आयामों पर किसी नीलम, सुनंदा और किसी किशोरीबाई की तरह पक और मजबूत हो रही है ।

उपन्यास में आए श्रमिक वर्ग हो या निम्न मध्यमवर्गीय परिवार हो, कामकाजी महिलाएँ हो या दलाल मैडम हों, संजय कनोई, अन्ना साहब, पवार, किरपू दुसाध जैसों का रहन-सहन हो, सबके बीच में है आज की स्त्रियाँ, स्त्रियाँ ही स्त्रियाँ, उनकी जीवन स्थितियाँ, उनके संघर्ष उनके समझौते, उनके पतन, उनके उत्कर्ष, उनकी नियति, उनके स्वप्न, मोह, मोहभंग और उनके फैसले । कुल मिलाकर हर प्रकार का स्त्री जीवन 'आवां' के केन्द्र में है । वास्तव में यह स्त्री-विमर्श का उपन्यास है, श्रमिक राजनीति के परिवेश में लिपटे होने के बावजूद सम्पूर्ण स्त्री-विमर्श का उपन्यास, स्त्रीवाद को धता बताता हुआ देहवादी अंध कूपों में उतरकर भी उन कूपों के विरूद्ध बिगुल बजाता है । स्त्री को सम्पत्ति या उपभोग की वस्तु समझने के बजाय उसे मानवी रूप में स्वीकार करने का स्पष्ट आख्यान करता हुआ यह एक यादगार उपन्यास है ।

सन्दर्भ सूची -

१. आवां, चित्रा मुद्गल, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, आठवाँ संस्करण २०१५, पृ. १३५
२. वही, पृ. १४३
३. वही, पृ. ४९९
४. वही, पृ.५२३
५. वही, पृ. ५३९
६. वही, भूमिका, पृ. ०९
७. वही, पृ. १०५
८. वही, पृ. ११२
९. वही, पृ. १५०
१०. https://www.rachanakar.org/2018/10/blog-post_9.html?m=1
11. https://yourstory.com/hindi/ea6eff5cf2-chitra-mudgal/amp

साहित्य और सिनेमा

डॉ.विनीता रानी

असिस्टेंट प्रोफेसर
जानकी देवी मेमोरियल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय
फोन :९८१८८२५६१५

साहित्य और सिनेमा का संबंध बहुत गहरा है दोनों एक दूसरे को समृद्ध करते रहे हैं इसके साथ ही साहित्य और और सिनेमा ऐसे माध्यम हैं जिसमें समाज को बदलने की ताकत सबसे अधिक होती है। कहना गलत ना होगा कि सिनेमा साहित्य से अधिक प्रभावशाली और आम जनता तक सरलता से पहुंचने वाला माध्यम है। किसी भी फिल्म के लिए पटकथा और गीत देने का काम साहित्य ही करता है। सत्यजीत रे सिनेमा की जो परिभाषा देते हैं उसमें साहित्य और सिनेमा दोनों का संगम है। एक फिल्म चित्र है, फिल्म आंदोलन है, फिल्म शब्द है, फिल्म नाटक है, फिल्म कहानी है, फिल्म संगीत, फिल्म हजारों अभिव्यक्त दृश्य श्रव्य आख्यान है।

विमलेन्दु कहते हैं 'साहित्य और सिनेमा का संबंध भी दो पड़ोसियों का रहा है, दोनों एक दूसरे काम तो आते हैं लेकिन यह कभी सुनिश्चित नहीं हो पाया कि इनमें प्रेम है कि नहीं।' यह वक्तव्य काफी महत्वपूर्ण है।

सिनेमा को गढ़ने के लिए एक कथा की जरूरत होती है। साहित्य उसे पूरी करता है। प्रेमचंद, राजेन्द्र सिंह बेदी, कमलेश्वर, जावेद अख्तर, मन्नू भंडारी, राजेन्द्र यादव, फणीश्वरनाथ रेणु, भगवतीचरण वर्मा, सेठ गोविंद दास, शरत चंद, सेठ गोविंद दास ऐसे अनेक साहित्यकार हैं जिन्होंने साहित्य के साथ फिल्मों में भी कथा लिखने के लिए प्रयास किया। शैलेन्द्र, गोपालदास नीरज, साहिर लुधियानवी, शकील बदायुनी, केदार शर्मा तथा एस. एन. बिहारी ऐसे गीतकार हैं जिन्होंने साहित्य और सिनेमा दोनों में अपनी अभूतपूर्व पहचान बनाई। मानव मन के भाषा को जिस प्रकार साहित्य में स्थान दिया जाता रहा है उसी प्रकार की प्रवृत्ति सिनेमा में हिन्दी फिल्मी गीतों की रही है।

समाज में मूल्यों की स्थापना के लिए साहित्य की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। ठीक उसी तरह सिनेमा भी समाज को परिवर्तित करता है? इस प्रकार समाज विकास में सिनेमा और साहित्य दोनों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। सिनेमा और साहित्य समाज में होने वाले परिवर्तनों से निरंतर हमारा परिचय कराता है। फणीश्वरनाथ रेणु की कहानी मारे गए गुलफाम पर आधारित 'तीसरी कसम' आर के नारायण के उपन्यास पर बनी 'गाइड' मन्नु भण्डारी की रचना पर रजनीगन्धा, अमृता प्रीतम के उपन्यास पर आधारित पिंजर, भगवती चरण वर्मा के उपन्यास चिंगलेसा, कमलेश्वर की कृति पर आंधी और मौसम जैसी सफल किलो बनी है। मनोरंजन की जगह उनका उद्देश्य संदेश व उद्देश्य की प्रधानता है । मृणाल सेन की (मृगया) श्याम बेनेगल की (अंकुर, निशाना, कन्चन, भूमिका, जुनून, मंडी) प्रकाश झा की (दामुल) सई परांजपे की (स्पर्श, कथा, दिशा) मीरा नागर की (सलाम बाम्बे) इत्यादि महत्वपूर्ण फिल्में हैं जिन्होंने सिनेमा और साहित्य दोनों को समृद्ध किया है। पर अधिकतर यही देखा गया गया कि सिनेमा पर बनने वाली फिल्में सफल नहीं हुई। जिन सफल फिल्मों का वर्णन किया गया है उनकी संख्या

काफी कम है। बहुत से साहित्यकारों को सिनेमा की चकाचौंध ने अपनी तरफ खींचा। अधिकांश अपनी कृतियों को फिल्मी हत्या होने पर उल्टे पांव वापस भी आ गए उनमें से प्रेमचंद भी एक हैं। सिनेमा और साहित्य परस्पर जुड़े होने पर भी अलग-अलग कला हैं। कृति का सिनेरूपांतरण होने पर थोड़ी बहुत फेरबदल की गुंजाइश होती है। वर्तमान में साहित्य पर आधारित बहुत फिल्में हैं। फिल्मकार बलराज साहनी कहते हैं ' फिल्म कला को ऑपरेशन टेबल पर रखिए और उसको चीरफाड कीजिए तो पता चलेगा कि फिल्म कला दरअसल एक कला का नाम नहीं बल्कि अनगिनत कलाओं के समूह का नाम है।'

यहां हम कुछ महत्वपूर्ण फिल्मों की चर्चा कर रहे हैं जो साहित्यिक कृतियों पर आधारित हैं और साहित्य सिनेमा के सम्बन्धों का बेजोड़ नमूना है। थ्री इडियट्स (२००) वर्ष के अन्त की सबसे रोमांचक फिल्म है। यह फिल्म तीन बेवकूफों रणछोडदास, राजू रस्तोगी और राजू रस्तोगी नामक युवाओं पर आधारित है। फिल्म क्रूर शिक्षा प्रणाली और रहन पद्धति का खुलकर बहिष्कार करती है यह फिल्म उस साल की सबसे महत्वपूर्ण और प्रभावशाली फिल्मों में से एक है और दुनियाभर में पसंद की गई। चेतन भगरा के उपन्यास 'काइन पांईट समणन' अभिभावकों का बच्चों पर कुछ बनने का दवाब और किताबी ज्ञान की उपयोगिता तथा रहन पद्धति पर मनोरंजक तरीके से सवाल उठाए हंम मजे की बात ये है कि इन बातों को समझने के लिए उपदेशों की बजाय मनोरंजन की चाश्नी में घोलकर समझाया गया है। सभी कलाकारों ने बेहतरीन प्रदर्शन किया। आमिर खान को अपनी उम्र से आधी उम्र का चुनौतीपूर्ण किरदार बेहद सफल रहा। (गंभीर विमर्श का आयाम देते हुए विशाल भारद्वाज ने 'हैदर' का निर्माण किया। अफ्सपा (आर्म्स फोर्सेस स्पेशल पावर एक्ट) और चुत्जपा (किसी का दुस्साहसी ढंग से मखौल उड़ाते हुए विरोध दर्ज करना) जैसे सांकेतिक शब्दों का इस्तेमाल इस फिल्म की विशेषता रही। कहानी के मूल रूप से हैदर को मां गजाला मीर (तब्बू) की कहानी है जो पति के होते हुए देवर खुर्रम (के. के. मेनन) की ओर आकर्षित होती है। खुर्रम अपने बड़े भाई को गायब करने के बाद गजाला से निकाह कर लेता है। हैदर अपने चाचा से इस बात का बदला लेना चाहता है। फिल्म का सबसे खूबसूरत हिस्सा मां बेटे के संबंध का है जो तमाम उतार चढ़ाव सहमतियों और ठण्डी खूनी होली के बाद नर्म और गर्माहट भरे बने रहते हैं, दिल को छूते हैं। कश्मीर में सैना अत्याचारों को यहां दिखाया गया, स्थानीय लोग बड़ी आसानी से गायब कर दिये जाते हैं। एक संवाद में कहा गया हैः कश्मीर में ऊपर खुदा है नीचे फौज ।

पहेली : अमील पालेकर द्वारा निर्देशित यह फिल्म राजस्थान के लेखक विजयदान देथा की कहानी 'दुविधा' पर आधारित है। विजयदान देथा साहित्यिक कृतियों के लिए 'पद्मश्री' साहित्य अकादमी पुरस्कार और साहित्य चुडामणि जैसे पुरस्कारों से सम्मानित है। फिल्म की कहानी में एक भूत को बेला नाम की एक लड़की से प्यार हो जाता है बेला को शादी हो जाती है। उसका पति पैसा कमाने के लिए शादी वाली रात को ही पांच सालों के लिए चला जाता है। इस बात का फायदा उठाकर भूत बेला का पति बनकर उसके पास रहने लगता है। कुछ सालो बाद बेला पति वापस आता है तब रहस्य खुलता है। भूत-प्रेत जैसी कहानी पर फिल्म बनाना जोखिम भरा होता है। पर पहेली ने ऐसी आशंका को नकारते हुए अपार सफलता अर्जित की। रंग बिरंगे कपड़े, आलीशान हेवली और कुदरत के विशाल कैनवास ने इस फिल्म को दमदार बना दिया यह फिल्म ऑस्कर के लिए भी चुनी गई।

परिणीता २००५ः शरतचन्द्र के प्रसिद्ध उपन्यास पर आधारित परिणीता यादगार फिल्मों में शुमार है निर्देशक प्रदीप सरकार ने अपने फिल्मी कैरियर की शुरूआत इसी फिल्म से की। फिल्म बंगाली कल्चर को एक्सप्लोर करती एक त्रिकोणिय प्रेम कथा है। शरतचन्द्र के इस उपन्यास पर पहले भी फिल्म बन चुकी है शेखर और ललिता बचपन के पुराने दोस्त हैं दोनों की दोस्ती प्यार में बदलती है। फिल्म की कहानी में नया मोड़ तब आता है जब ललिता के परिवार को गिरीश स्पोर्ट करने लगता है पर अंत में शेखर के प्यार की जीत होती है। इस फिल्म में शेखर का किरदार सैफ अली खान ने तथा ललिता के किरदार में विधा बालन नजर आई। गिरीश का किरदार

संजय दत्त ने निभाया।

बरेली की बर्फीः अश्विर अययर के निर्देशन में बनी फिल्म 'बरेली की बर्फी' फ्रेंच पुस्तक 'द इनग्रेडिएटस ऑफ लव' से प्रेरित है। पेरिस की कहानी को बेरली में शिफ्रट किया गया है। बरेली की बर्फी हिन्दी सिनेमा में एक शानदार पडाव है। फिल्म की रोमेन्टिक कॉमिडी उत्तर भारत के एक छोटे से शहर बरेली पर आधारित है। कृति सेनन, राजकुमार राव और आयुष्मान खुराना अभियन की ऊंची उड़ान दी है। फिल्म की शानदार कहानी ने इसे और भी बेहतर बना दिया है। फिल्मी की शानदार कहानी ने इसे और भी बेहतर बना दिया है। हमारी रोज की जिन्दगी में बहुत सारी मजेदार चीजें हैं जिसका आनन्द लेना हम भूल चुके हैं एक मजेदार रोचक फिल्म के रूप में साहित्य का बेहतर रूपांतरण इसमें देखा जा सकता है।

ओमकारा : २००६ की अपराध ड्रामा पर आधारित हिन्दी भाषा की भारतय फिल्म है, जिसमें विशाल भारद्वाज ने निर्देशित एवं सह लेखन किया है। यह फिल्म शेक्सपियर की कृति 'ओथलो' का आधुनिक सिने रूपांतरण हैं। मुख्य भूमिकाओं में अजय देवगन, सैफ अली खान, विवेक ओबराय और करीना कपूर हैं। उत्तर प्रदेश के मेरठ की पृष्ठभूमि पर बनी यह फिल्म कांस्य, फिल्म असम में ट्रेलर प्रदर्शन के लिए भी गई। इस फिल्म को कारा फिल्म उत्सव में तीन राष्ट्रीय पुरस्कार तथा सात फिल्म फेयर के लिए भी चुना गया। इस प्रकार यह एक सफल फिल्म रही।

द ब्लू अंब्रेला २००५

विशाल भारद्वाज ने रस्किन बाण्ड की रचना 'द ब्लू अंब्रेला' को इसी नाम से हिन्दी सिनेमा में रूपांतरित किया। कहानी इतनी सी हे। बिंदिया नामक लड़की को कुछ जापानी पर्यटक एक नीली छतरी भेंट करते हैं। जिससे उसे शहर में अपार लोकप्रियता मिलती है एक दुकानदार नंदकिशोर उसकी छतरी छिनना चाहता है लकिन बिंदिया उसे देने के लिए तैयार नहीं है। फिल्म ग्रामीण भारत को दर्शाती है बिंदिया गढ़वाल की पहाड़ियों की एक साधारण लड़की है जिसने अपने जीवन कोई बिलासिता नहीं देखी। नीले रंग का छाता इसके जीवन में असीम खुशी ले आता है। मकबूल : विशाल भारद्वाज द्वारा निर्देशित 'मकबूल' शेक्सपियर की कालजयी रचना मैकबेच पर आधारित है कहानी में मैकबेल राजा की हत्या राज्य पाने की लालसा में करता है जबकि फिल्म में मकबूल अपने गिरोह के आका की हत्या सिर्फ गिरोह को कब्जे में लेने के लिए नहीं बल्कि उसकी दौलत को भी हासिल करने के लिए करता है। नसीरूद्दीन शाह, पंकज कपूर, इरफान खान और तब्बू जैसे मंजु हुए कलाकारों ने इसमें मुख्य भूमिका निभाई है। मकबूल के लिए इरफान खान को से अवार्ड मिले।

सात खून माफः सात खून माफ विशाल भारद्वाज द्वारा निर्देशित रस्किन वॉड की शार्ट स्टोरी पर आधारित फिल्म है उन निर्माता निर्देशकों को विशाल भारद्वाज से सबक लेना चाहिए जो अच्छी कहानियों के आभाव का रोना रोते हैं हमारे साहित्य में भी ढेर सारी कहानियां है विशाल जी इसी में से चुनते हैं। सात खून माफ शूर्जेन्स सेवन हस्बैंड्स' पर आधारित है। सुजैन सात शादियां करती है और अपने सातों पतियों को मौत के घाट उतार देती है। प्यार, नफरत, सैक्स, लालच जैसे जीवन के कई रंग इसमें नजर आते हैं।

लेटेराः विक्रमादित्य मोटवाने के निर्देशन में बनी 'लुटेरा' ओ हेवरी की कहानी 'द लास्ट लीफ' को आधार बनाकर उसे गुजरे जमाने का टच दिया। और अपने शानदार निर्देशन के बल पर विक्रम ने लुटेरे को देखने लायक बनाया है। फिल्म ट्रैजिक लव स्टोरी है। अच्छी है पर लम्बी और कई जगह धीमी है। सोनाक्षी सिन्हा ने अपने अभिनय करियर का सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शित किया है, रणवीर सिंह ने भी अपना किरदार बखूबी निभाया है फिल्म की सफलता इस बात में है कि वह आपके दिल को छूती है।

फितूरः यह चार्ल्स डेकन के नोबेल 'द ग्रेट एक्सपेक्टेशन' पर आधारित है फिल्म में इस उपन्यास का भारतीयकरण किया गया है। पर अभिनय के मामले में फीकी है जिसके कारण यह फिल्म निराश करती है।

'काई पो चे' : अभिषेक कपूर की यह फिल्म थ्री इडियट्स की तर्ज पर उपन्यास पर बनी बेहतरीन फिल्म है। इस फिल्म में भूकंप, गोधरा कांड और गुजरात दंगे

विशेष रूप से शामिल हुए हैं। यह फिल्म की खूबसूरती ये है कि घटनाओं की वीभत्सता दिखाने के बजाय निर्देशक ने इस बात को पकड़ने पर ज्यादा जोद दिया कि इन घटनाओं से फिल्म के पात्रें की जिन्दगी में इसका क्या फर्क पड़ता है यह एक खूबसूरत और संवेदनशील फिल्म है। जो मनोरंजन के साथ-साथ सुकून भी देती है। क्रिकेट धर्म और राजनीति के इर्द-गिर्द भारतीय समाज घूमता है और यही सब कुछ 'काई पो चे' की कहानी में देखने को मिलता है। फिल्म यह बताने की कोशिश करती है कि क्रिकेट और सिनेमा भारतीयों को एक करते हैं जबकि राजनीति और धर्म लोगों को बांटने का काम करते हैं।

मोहल्ला ३० : यह फिल्म काशीनाथ सिंह के उपन्यास 'काशी का अस्सी' पर आधारित है कहानी बनारस की है समय १९८८ से शुरू होता है। मोहल्ला ३० में ब्राह्मण रहते हैं। धर्मनाथ पाण्डेय पुजारी और संस्कृत टीचर हैं। धर्मनाथ को समय के बदलाव के साथ अपने आदर्श ध्वस्त होते नजर आते हैं दूसरी ओर भारत की राजनीतिक परिस्थितियां विचलित कर देने वाली है। मण्डल कमीशन, मंदिर-मस्जिद विवाद की गरमाहट चाय की दुकान पर महसूस की जा सकती है। कमजोर फिल्मी रूपांतरण और सेंसर की कांट छांट के कारण फिल्म साहित्यिक कृति के साथ न्याय नहीं कर पाई।

इस प्रकार साहित्यिक कृतियो पर बहुत सी फिल्में बन रही है कुछ असफल भी हो रही है। इकबाल रिजवी मानते है कि 'हिन्दी में साहित्यिक कृतियों पर सबसे कम सफल फिल्में बन पाई है ।' लेकिन इसकी गहराई में जाएं तो एक बात समझ आती है कि सिनेमा की क्या वस्तु पूर्ति में साहित्य शायद कहीं असक्षम है। साहित्य में बहुत कुछ लिखा जा रही है। शहरी, ग्रामीण, आदिवासी, दलितों तथा अल्पसंख्यक समुदाय को अनगिनत अनुभूतियां साहित्य में बिखरी पड़ी है। फिल्म पहेली की कहानी इसका सबसे अच्छा उदाहरण है इसके अलावा अहिन्दी भाषी अनुवाद के माध्यम से हिन्दी में आ रहा है कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि साहित्य भरपूर मात्र में रचा जा रहा है। शायद फिल्मकार की खोजी दृष्टि उस बहुमूल्य साहित्य तक नहीं पहुंची है या फिर सब कुछ जानते समझते हुए वे इन कृतियों पर सिनेमा बनाने का जोखिम नहीं उठाना चाहते है। हाल ही के वर्षों में विशाल भारद्वाज ने ऐसे बहुत से प्रयोग किए हैं और वे नयी कथा वस्तु के साथ सिनेमा देने में सफल भी रहे हैं। अभिनेता अखिलेन्द्र मिश्रा का मानना है कि 'जिन साहित्यिक कृतियों फिल्म बन रही है वे ज्यादातर विदेशी साहित्य पर आधारित है।' जबकि हमारा मानना है कि कोई भी साहित्य कृति देशकाल, जाति और धर्म से परे होती है। उसके लिए सीमाएं बांधने का अर्थ है शेक्सपियर को भी नकार देना ।

भारत की भारत कहे तो अविभाज्य भारत में हिन्दी-उर्दू में काई फक नहीं माना गया । उर्दू के अफसफा निगर माटो की कहानी पर बनी अधूरा कन्या (१९३६) सुपरहीट हुई। काबुली वाला कहानी की मिली देशकाल की सीमाओं से परे काबुली वाले की बेटी के प्रति प्यार को दर्शाती है। तो साहित्य की कमी नहीं है। अजय कुमार चौधरी का मानना है कि 'हिन्दी का अधिकांश लेखन फिल्मों की दृष्टि से अनुपयोगी है और समकालीन लेखक सिनेमा की जरूरतों के मुताबिक लेखन कार्य नहीं कर रहे हैं। हमें ऐसी चुनौतियों को गंभीरता से लेना होगा और साहित्य जगत को अपने भीतर से ऐसे साहित्यकार पैदा करने होंगे, जो फिल्म लाइन की बारीकियों की जानकारी रखते हो और चित्रपट की आवश्यकताओं के मुताबिक पटकथा लेखन करने में सक्षम हों। वरना हम हॉलीवुड की फिल्मों की घटिया नकल बतौर बासी रिमेक फिल्मों पुरानी कहानियों की भौंडी पुनर्प्रस्तुतियों को देखने के लिए अभिशाप होंगे।' जरूरत यहां इस बात की है कि हम लोकल साहित्य पर भी ध्यान दें। हाल ही दिनों में रियल लाइफ पर फिल्में तेजी से बन रही है जो जीवनी या आत्मथा विधा के नजदीक है जो अपनी विषय वस्तु की विविधता और नएपन के साथ दर्शकों में अच्छी पैठ बना रही है। 'दंगल', 'मांझी', 'पैडमैन', 'मैरी कॉम', 'एम एस धोनी', 'भाग मिल्का भाग, 'नीरजा', 'सीक्रेट', 'सुपरस्टार' तथा 'टॉयलेट एक प्रेमकथा' जैसी फिल्में दर्शकों को पसन्द आ रही है। ये साहित्यिक कृतियों पर आधारित नहीं है। पर साहित्यिक विद्या के नजदीक जरूर है। इसी प्रकार

कुछ महत्वपूर्ण घटनाओं पर आधारित फिल्में भी है। केसरी, मणिकर्णिका, बाटला हाउस, अटैक २६/११, सरबजीत, जेसिका (द्द दहा ब्त्त् र्रैंर्ग्ह), गुलाब गैग, गाजी अटैक तथा मिशन मंगल जैसे नाम उल्लेखनीय है। तो समकालीन घटनाओं के आधार पर कथा को विश्लेषित करके दर्शकों को मनोरंजन के साथ साथ ज्ञानवर्धन भी करती है। साहित्य का भी यही उद्देश्य है। सिनेमा उसे कलात्मक ढंग से पूरा करता है। बाजीराव मस्तानी, पद्मावत और जोधा अकबर जैसी फिल्में भले ही साहित्य के साथ छेड़छाड़ करती हो, प्र दर्शक उसे पसंद करते है।

इस प्रकार कहा जा सकता है फिल्मकारों को और साहित्यकारों के बीच की दूरी कम करनी होगी। फिल्मकारों को अपनी कर्मभूमि मुंबई से निकलकर साहित्यकारों से सम्पर्क साधना होगा, दूसरी ओर साहित्यकारों को भी अपनी सामाजिक उत्तरदायित्व को समझते हुए समकालीन प्रासंगिक विषयों के आधार पर साहित्य सृजन करना होगा । फिल्मकारों को देशभर के साहित्यकारों से सम्पर्क साधना होगा उन्हें घिसी पीटी कहानियों से तभी मुक्ति मिलेगी। इसी प्रकार माननीय भावों को साहित्य और सिनेमा दोनों में देखा जा सकता है। दोनों ही समाज को दिशा देने का काम करते है इसलिए रूपांतरण और उपयोग की प्रक्रिया को मजबूत करना होगा । विश्व साहित्य और सिनेमा के दोनों रूपों में समान रूप से दखल देने वाले शंभु मित्र, श्यामानंद लाजान, बाब कारंत, हवीव तनवीर तथा गिरीश का नाम लिया जा सकता है कि, सिनेमा का आरम्भ साहित्य से होता है। भाषा के रूप में सिनेमा मुहावरे लोकोक्तियों और किस्से कहानियों को समृद्ध करता है। इसलिए जरूरत यह महसूस की जा रही है कि कलमकार को फिर अपनी कलम उस ग्रामीण अंचल और अनछुई स्थितियों, परिस्थितियों संवेदनाओं की ओर मोड़ना होगा जहां बहुसम्यक समाज रहता है। जहां नई कहानियों, गीतों और परिवेश को सृजना हो सकती है और तभी साहित्य और सिनेमा के संबंधों से भारतीय सिनेमा नया आकार ले पाएगा। देश विदेश के साहित्य की सीमाओं को तोड़ना भी साहित्य को समृद्ध करेगा ।

डॉ. विनीता रानी
असिस्टेंट प्रोफेसर
जानकी देवी मेमोरियल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय
फोन :९८१८८२५६१५

संदर्भ सूचि :

१. भारतीय सिनेमा - प्रसून मिश्रा श्री नटराज प्रकाशन
२. साहित्य और सिनेमा - अजय कुमार चौधरी (ब्लॉग) वंचित
३. हिन्दी समय - सचितन तिवारी, यू. जी. पत्रिका
४. गूगल से साभार से
५- हंस फरवरी (२०१३)
६. जनसत्ता १६ दिसंबर २०१६

सांस्कृतिक अस्मिता और मीडिया का दायित्व

डॉ० अनिला एम० मिश्रा

असिस्टेंट प्रोफेसर
हिंदी विभाग
सरदार पटेल विश्वविद्यालय, वल्लभ विद्यानगर आनंद, गुजरात
मो० ९८७९४०५२५५

आज हम जिस दौर में जी रहे हैं,वह है २१ वीं सदी, जहाँ आधुनिकीकरण अपनी चरम सीमा पर है। पहले लोगों की इच्छा-आकांक्षा केवल चाँद पर पहुंचने तक सीमित थी, लेकिन आज हम उससे भी कहीं आगे निकल चुके हैं। आए दिन नई टेक्नोलॉजी आ रही है। यह भी सुना जा रहा है कि यह टेक्नोलॉजी का ज़माना है, हर कोई इससे प्रभावित है। जहाँ देखो वहाँ चारों ओर बाजार ही बाजार, जहाँ सिर्फ कुछ खरीदा जाता है, कुछ बेचा जाता है। जहाँ न भावनाएँ हैं न संवेदनाएं। ऐसे में घर, परिवार, समाज, संस्कृति आदि के विषय में चिंता होना स्वाभाविक है। हम अपनी सभ्यता, अपनी संस्कृति को किसके माध्यम से बचा सकते हैं? यह भी सोचनीय प्रश्न हैं और इसके उत्तर के रूप में हमारे जहन में एक नाम आता है और वह है मीडिया। आज के दौर में मीडिया जितना शक्तिशाली माध्यम कोई नहीं है और न ही इस तथ्य से भी इन्कार किया जा सकता है कि वैश्वीकरण के इस दौर में मीडिया और संचार माध्यमों का वर्चस्व दिनो-दिन जिस तेजी के साथ बढ़ रहा है उसे देखते हुए एक तरफ विकास एवं प्रगतिशीलता की लगातार चर्चा हो रही है, तू दूसरी तरफ सांस्कृतिक अस्तित्व को अक्षुण रखने की चुनौती भी हमारे सामने है। इस परिप्रेक्ष्य में मीडिया की कुछ अपनी विशिष्ट जिम्मेदारियां है। ताज और संस्कृति के बीच मीडिया की भूमिका को लेकर लंबा-चौड़ा विमर्श किया जा सकता है।परन्तु यहाँ पर हमारा प्रतिपदा मीडिया के उन लक्ष्यों को उजागर करता है जिनसे मीडिया के दायित्व का सीधा सरोकार है, क्योंकि मीडिया को ना केवल भारतीय समाज बल्कि विश्व समाज में एक ऐसा प्रबल और सशक्त माध्यम के रूप में देखा जाता है जो सामाजिक, सांस्कृतिक अवस्थाओं के बीच सेतु की भूमिका अदा करता है, ऐसे में स्वाभाविक रूप से मीडिया का उत्तरदायित्व और भी ज्यादा बढ़ जाता है। सांस्कृतिक संदर्भों को लेकर यदि मीडिया की भूमिका पर विचार किया जाए तो बहुत से पहलू उभरकर सामने आते हैं। सर्वप्रथम यह जानने-समझने की आवश्यकता है कि मीडिया का अस्तित्व आखिर क्या है, किसी के जहन में यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि भारत जैसी समाहारी प्रकृति की संस्कृति को बचाने अथवा उसके रक्षण का दायित्व मीडिया पर ही क्यों हो? इसका निराकरण है कि मीडिया पारंपरिक रूप से भी समाज और जन जीवन का अभिन्न अंग रहा है। वह एक समय में एक से अधिक लोगों के बीच पहुंचता है। इतना ही नहीं मीडिया पर समाज का अटूट विश्वास भी होता है। मीडिया स्वयं में भले ही स्वायत्त हो परंतु उसे समाज की समन्वित संकलना से बाहर रख कर नहीं देखा जा सकता।प्राचीन काल में

ढिंढोरा और मुनादी से लेकर आज के इंटरनेट युग तक कोई भी समाज मीडिया विहीन नहीं रहा है। ऐसे में मीडिया का प्राचीन गौरव भी अक्षुण है जिसके चलते अन्य माध्यमों के साथ-साथ मीडिया का दायित्व भी इसलिए बढ़ जाता है क्योंकि वह संस्कृति का ही एक अंग है।

आज के दौर में वैश्विक फलक पर मीडिया की मौजूदगी को मानव सभ्यता और समाज के अनिवार्य संसाधन के रूप में देखा जाता है। आज हमारे सामने जनसंचार माध्यमों के रूप में मीडिया की कई शाखाएं मौजूद है, जिनमें पारंपरिक मीडिया, प्रिंट मीडिया, श्रव्य माध्यम और दृश्य-श्रव्य माध्यमों के वर्चस्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त औद्योगिक विकास एवं वैज्ञानिक प्रगति के समांतर सोशल मीडिया जैसा विकल्प भी बहुतायत के साथ हमारे सामने है। इन सब माध्यमों के चलते व्यक्ति, परिवार, समाज, समुदा और राष्ट्र त्वरित गति से एक-दूसरे के साथ जुड़ रहे हैं, परंतु इस प्रक्रिया में एकरूपता के कारण सांस्कृतिक मूल्यों का संकट भी सामने रहा है। समझा जाता है कि किसी भी संस्कृति की पहचान उसके वैविध्य के कारण होती है। जब सांस्कृतिक वैविध्य धीरे-धीरे एक से अधिक संस्कृतियों से विलीनीकरण होता है तो एकरूपता का आधिपत्य होने लगता है और विविधता का आकर्षण संस्कृतियों के सम्मिलन अथवा समन्वय के कारण धीरे-धीरे लुप्तप्राय भी होता है। स्कूल इसके रक्षण के लिए समाज में निहित परंपराओं, परिपाटियों, प्रथाओं, संस्कारों, जीवन मूल्यों, जीवन शैलियों आदि को बचाना भी परम आवश्यक है। इसका दायित्व यदि संचार माध्यमों तथा मीडिया को निभाना हो तो निश्चित रूप से सामाजिक, सांस्कृतिक पहचान के संकट को काफी हद तक टाला जा सकता है। साथ ही भारतवर्ष जैसी सांस्कृतिक वैविध्य युक्त देश में सांस्कृतिक अस्तित्व का युगों तक रक्षण भी किया जा सकता है। मनुष्य स्वयं संस्कृति का निर्माण करता है, वही उसे सम्भालता है, संजोता है। हर समाज की, हर देश की अपनी संस्कृति होती है, संस्कृति आनुवांशिक नहीं है बल्कि उसका अर्जन होता है। हमें हमारी संस्कृति पर गर्व होना चाहिए। वह केवल मूल्यों को संजोए रखने तक सीमित नहीं होती, बल्कि वह हमें एक नई दिशा भी देती है। लेकिन वर्तमान समय में हम अपनी संस्कृति से कटते जा रहे हैं इसका सबसे बड़ा कारण है वैश्वीकरण। आज पूरा विश्व मानो मुट्ठियों में सिमट गया है लेकिन यदि हम अपनी संस्कृति के प्रति सजग नहीं रहे तो वह भी इस भीड़ का एक हिस्सा बन कर रह जाएगी और अपना अस्तित्व खो देगी। यहाँ यह स्पष्ट करना प्रासंगिक होगा कि प्रगतिशीलता के परिप्रेक्ष्य में जड़ीभूत मान्यताओं, ठहरे हुए मानव मूल्यों, कुरीतियों, कुरिवाजों, रूढ़ियों, सड़ी-गली परंपराओं, विश्वासों आदि को भी दूर करना जरूरी है, ये सभी युगों से संस्कृति का अभिन्न अंग रहे हैं परन्तु जिन्होंने समाज एवं संस्कृति को प्रकारांतर से ठेस भी पहुंचाई है। हमारी संस्कृति हमारी पहचान है और आज इस पहचान, इस धरोहर को यदि कोई अक्षुण्ण रखने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर सकता है तो वह है मीडिया, क्योंकि यह एक ऐसा माध्यम है जिससे घर, परिवार, समाज, देश का हर एक व्यक्ति प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से जुड़ा हुआ है। ऐसी स्थिति में सांस्कृतिक पहचान बनी रहे, साफ सुथरी सामाजिक संस्कृति विकसित हो तथा निराकरण सांस्कृतिक मूल्यों आपका जतन जैसे प्रश्न निराकरण की दिशा में गतिमान हों यह भी उतना ही आवश्यक है। जब हम संस्कृति की अवधारणा से रूबरू होते हैं तो मानव समुच्चय सामूहिक चेतना, सामुदायिकता जैसे संदर्भ सहज रूप से समाज और संस्कृति का अंग बन जाते हैं। मीडिया इस समन्वित संकल्पना का एक प्रबल आधार है,क्योंकि उसे मानव समाज में महत्त्व और सम्मान प्राप्त है। एसएमएस स्वाभाविक रूप से समाज और संस्कृति के प्रति मीडिया का दायित्व सामान्य से अधिक हो जाता है।

वर्तमान समय में मनुष्य कई आयामों में जी रहा है। कई संस्कृतियों को उसने अपनाया है, कई बार तो यह निश्चित कर पाना भी कठिन हो जाता है कि हमारी वास्तविक संस्कृति कौन सी, और क्या है? क्योंकि वातावरण से मनुष्य जितना प्रभावित होता, उससे कहीं अधिक वह वातावरण को प्रभावित भी करता है। हमारी विचारधारा, जीवनशैली, धर्म, कला, दर्शन, साहित्य, मान्यताएँ, अस्थायी सभी कुछ इससे जुड़ी हुई होती है।

लेकिन आज की बाजारवाद और भौतिकवादी प्रवेश में जीने वाले समाज के पास इतने सारे विकल्प हो चुकें है कि उसे चयन के लिए एक प्रकार की दुविधा का स्वीकार होना पड़ता है। ऐसे में पारंपरिक रीतियां कहीं न कहीं पिछड़ने लगती है और पारंपरिकता तथा आधुनिकता के द्वंद्व के कारण एक नई सभ्यता व जीवनशैली पनपती है। इसमें बड़ी तेजी से इजाफा भी हो रहा है। इसके चलते पारंपरिक समाजों व सभ्यताओं की पहचान का संकट संभवतः दिनों-दिन बढ़ रहा है।परिवर्तन की दौड़ मैं विकास के समानांतर न केवल मानसिक स्तर पर बल्कि व्यावहारिक स्तर पर भी यह बदलाव दृष्टिगोचर हो रहा है। इस प्रकार भी होड़ और दौड़ में संस्कृत के जतन का प्रश्न शतत दुरूह होता जा रहा है। मीडिया जैसे संसाधन का दायित्व बनता हैकि इन सभी परिस्थितियों ख सम्यक आंकलन करते हुए वह सांस्कृतिक अस्मिता के रक्षण की दिशा में प्रयासरत और कर्मशील हो। मीडिया नष्ट होती संस्कृति को बचाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर सकती है, लेकिन जन संचार के माध्यमों की सामाजिक, सांस्कृतिक भूमिका को लेकर हमेशा से ही एक बहस चलिए आ रही है और आज तू माध्यमों का इतना विकास और वृद्धि हुई है कि उसने इस बहस को और भी तीव्र बना दिया है कि क्या मीडिया बाजारीकरण से स्वयं को मुक्त करके समाज और संस्कृति को बचाए रखने में अग्रसर होगा? ऐसा नहीं है कि मीडिया की इस दिशा में कोई भूमिका नहीं, वह एक हद तक इस दिशा में सक्रिय भी हैं। मीडिया के हवाले से हमें हमें अपनी सांस्कृतिक विरासत, प्रथाओं, लीक का न केवल पता चलता है, बल्कि संस्कृति में निहित उदारताओ की रक्षण की चुनौती भी मिलती है। समाज और मीडिया दोनों मिलकर एक ऐसी व्यवस्था की बुनियाद रख सकते हैं जो आगामी युगों-युगों तक संस्कृति के रक्षण के दायित्व को निभाने के महत्वपूर्ण साबित हो सकती है। कारण यही है कि अंततः तो मानव समाज मीडिया को विश्वासपूर्वक अनुकरण करता है। बाजारवाद और उपभोक्तावाद के दौर में विज्ञापन जगत ने भी सांस्कृतिक मूल्यों को अपने ढंग से प्रस्तुत किया है जिसका प्रभाव आगामी पीढ़ियों पर पड़ना स्वाभाविक है। इस परिप्रेक्ष्य में मीडिया की सतर्कता और सजगता काफी अच्छी भूमिका निभा सकती है, और निभा भी रही है। परन्तु यह एक ज्वलंत प्रश्न है कि क्या आज हम अपने उसी संस्कृति से मुखातिब हैं जो पूर्वर्ती पीढ़ियों से हमें मिली है। क्या हम आगामी पीढ़ियों को उसी विरासत को सौंपने की दिशा में सफल होंगे जो हमारे पास वर्तमान में है।

प्रचार-प्रसार माध्यमों के लिहाज से मीडिया के पास व सामर्थ्य है जो मानव चेतना को लगातार सक्रिय बने रहने में मददगार सिद्ध होती है, क्योंकि व्यावहारिकता से कहीं ज्यादा चेतना के स्तर पर संस्कृति के मूल्यों के रक्षण की जरूरत महसूस हो रही है। मानव चेतना निश्चित रूप से मीडिया द्वारा आलोकित होती है। इस स्थिति में मीडिया का दायित्व है कि भारत जैसे देश को विश्व में न केवल गुर पद प्राप्त हो बल्कि अन्य संस्कृतियां भी उनकी गोद में समाहित होकर भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों का ग्रहण कर सांस्कृतिक व्यापकता, विराटता को अपनाए।

हमारे यहाँ अंग्रेजी के आगमन के साथ ही प्रिंट मीडिया और जन संचार के माध्यमों का विकास हुआ और आज हमने उसमें इतनी प्रगति की है कि अब तो ये माध्यम हमारे घर से बाहर निकलकर हमारे हाथों में आ गए हैं। पूरी दुनिया में जो परिवर्तन हो रहा है उसके केंद्र में अर्थ है और मीडिया भी इससे अछूता नहीं है,मीडिया में यह बदलाव कब और कैसे आ गया यह एक बड़ा विचारणीय प्रश्न है जब हम इस प्रश्न के उत्तर तक पहुँचेंगे तभी यह पता चल पाएगा कि जो मीडिया कभी हमारी संस्कृति को प्रस्तुत कर उसके प्रति हमारे भीतर गर्व की भावना को उत्पन्न करता था वह आज क्यों उपभोक्तावाद का शिकार बन गया। समाज के साथ मीडिया का भी सबसे बड़ा उत्तरदायित्व है संस्कृति की रक्षा करना क्योंकि संस्कृति से व्यक्ति जुड़ा होता है। और जब संस्कृति की रक्षा होगी तब व्यक्ति की अस्तित्व की रक्षा होगी। मीडिया मुगल रूपर्ट मडीक स्पष्ट कहते हैं कि 'यदि माध्यम स्वयं को लोकतंत्र का चौथा खंभा कहलाना पसंद करते हैं तो उन्हें समाजसेवा की ओर लौटना होगा वरना हम अपने हितों की रक्षा करते करते यह नहीं कह सकते हैं कि हम

जनता के हितों की रक्षा कर रहे हैं'

हम देखते हैं कि भारत में टीवी ने अपनी शुरुआत रामायण, महाभारत तथा हम लोग जैसे टीवी धारावाहिकों से की थी जो समाज को एक नई दिशा देने के साथ सांस्कृतिक मूल्यों को भी बचाए रखने में सहायक थे। नई पीढ़ी को धर्म, शास्त्र, आदर्श के साथ-साथ घर, परिवार के प्रति अपनी जिम्मेदारियों से भी अवगत कराते थे। वहीं आज यह धारावाहिक सास-बहू एक के बीच आपसी रंजस को महत्त्व देकर केवल सस्ती लोकप्रियता प्राप्त कर रहे हैं। आज पहरेदार पिया की जैसे धारावाहिक हमारी संस्कृति की क्या रक्षा करेंगे? वे केवल हमारी गरिमा में संस्कृति को ठेस पहुंचाने का काम कर रहे हैं। मीडिया आज हमें जो कुछ परोस रहा है उसमें अच्छा भी है, खराब भी। लेकिन उसे इसे परोसते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इससे समाज को लाभ हो रहा है या नुकसान।

मीडिया द्वारा प्रस्तुत की जाने वाली कला और संस्कृति, देश की शक्ति का प्रेरणा स्रोत बन सकती है, लेकिन आज ऐसा नहीं है, आज तकनीकी विकास ने भारत की संस्कृति और सभ्यता के लिए जहाँ एक और अवसर के द्वार खोले हैं वहीं दूसरी ओर खतरे भी खड़े किए हैं हमें इस तकनीकी सभ्यता का हिस्सा बनते हुए भी उससे अपनी संस्कृति की रक्षा करनी है। इसलिए ऐसा कहा जा सकता है कि तकनीक संस्कृति का केवल माध्यम है न कि उसका जीवन तत्व। जन संचार के माध्यमों में टीवी ने संस्कृत विमर्श का मुहावरा और संदर्भ दोनों ही बदल दिया। कई भाषाई चैनलों का प्रारंभ हुआ और सभी एक-दूसरे से आगे निकलना चाहते हैं, जिससे उनकी अस्मिता में वृद्धि हो, दूसरी ओर भारत सरकार ने मीडिया जगत में विदेशी पूंजी निवेश की अनुमति देकर देसी मीडिया को विदेशी मीडिया की गुलामी की अनुमति दे दी है। और इसका सबसे बड़ा प्रभाव हमारी संस्कृति पर पड़ेगा इसमें दो राय नहीं है। क्योंकि सांस्कृतिक गुलामी आर्थिक एवं राजनीतिक गुलामी से भी ज्यादा खतरनाक होती है, और इस गुलामी से मुक्ति के लिए आवश्यक है जन माध्यमों का स्वतंत्र होना।

आज का युवा वर्ग मीडिया से सबसे नजदीक से जुड़ा है और वह पाश्चात्य जीवन शैली और संस्कृति से अधिक प्रभावित हो रहा है। इतना ही नहीं उसमें पूँजीवादी मूल्यों के प्रति आकर्षण भी अधिक है। इंटरनेट के आने से सूचना प्रवाह में भी बदलाव आया है। आज व्हाट्सएप और फेसबुक, यूट्यूब जैसे माध्यमों द्वारा देश-विदेश की जानकारियां तो हमें मिल रही है, इतना ही नहीं कोई भी खबर इंटरनेट पर हम शीघ्र देख सकते हैं और वहाँ की संस्कृति से भी रूबरू हो सकते हैं। हमेशा हमारी उत्सुकता अपने से बड़े देश के सामाजिक व सांस्कृतिक पक्ष को देखने और समझने की रहती है।

मीडिया जिसका प्रारंभ मनोरंजन के उद्देश्य हुआ था आज उसने न केवल विश्व बल्कि भारत के आधे से ज्यादा बाजार को अपनी गिरफ्त में ले लिया है और इसी बाजारीकरण के बढ़ते कदम ने कब हमारे संस्कृति को हमसे छीन लिया यह भी हम समझ नहीं पाए।

आज के परिप्रेक्ष्य में मीडिया समाज के हर पहलू से जुड़ा हुआ है और इसी कारण यह आवश्यक है कि उन चीजों की समझा जाए जो मीडिया द्वारा प्रसारित होती है। मीडिया द्वारा एक नए समाज की रचना की जा रही है। भारत देश में जहाँ कई प्रकार की संस्कृत अपना अस्तित्व रखती है, वहाँ सभी को इस प्रकार ये किया जा रहा है किये एकेंद्रीकरण उन संस्कृतियों की स्वायत्तता को खत्म कर रही है, जो अपनी अलग पहचान रखती है। ऐसा नहीं है कि मीडिया के बढ़ते कदम समाज और संस्कृति के लिए केवल खतरा ही है बल्कि मीडिया ने इन तीनों को (व्यक्ति, समाज और संस्कृति) जोड़ने में भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। आज टीवी, फ़िल्म या अन्य माध्यमों में हम यह भी देख सकते हैं कि कैसे परंपरागत और ज्वलंत प्रश्नों का लोगों के बीच न केवल रखा जा रहा है बल्कि एक उचित हल की भी अपेक्षा होती है। हाल ही में आई फ़िल्म 'टॉयलेट एक प्रेम कथा' के माध्यम से एक जड़ सोच को खत्म करने की बात कही गई। मीडिया आज के दौर में वह माध्यम है जो स्त्री-पुरुष, बच्चे-बूढ़े, अमीर-गरीब सभी को प्रभावित कर रहा है। इसी कारण सांस्कृतिक धरोहर को संभालने में मीडिया की भूमिका से इनकार नहीं किया जा सकता।

आवश्यकता है तो इसे समझने और पहचानने की।

प्रसारण माध्यमों की भूमिका उस बिंदु तक पहुँच गई है जहाँ हमारी गौरवान्वित संस्कृति को तोड़-मरोड़ दिया गया है। आज अश्लीलता का कोई अर्थ हमारे पास नहीं है क्योंकि छोटे पर्दे पर भी अश्लीलता को इस हद तक बताया जा रहा है कि परिवार के सभी सदस्य एक साथ उसे देखने से भी कतराते हैं। हमारी संस्कृति जो 'वसुधैव कुटुंबकम' में मानती है वह छिन्न-भिन्न हो रही है। आखिर यह कैसी भूमिका है मीडिया की? इस विषय में कई विशेषज्ञों की अपनी अलग-अलग राय भी है। उनका कहना है की आज के बदलते हुए सामाजिक प्रवेश तथा बदलते हुए नैतिक मूल्यों के कारण यह स्थिति उत्पन्न हुई है। और हम सभी बिना किसी रोक-टोक के यह देख भी रहे हैं। यह सब देखकर ऐसा लगता है कि हम अपनी आने वाली पीढ़ी को विरासत के नाम पे क्या दे रहे हैं?

आधुनिकता ने चारों ओर विकास की लहर तो फूंकी लेकिन संस्कृत को गर्त में ले जा रही है। हर कोई आधुनिक होने में लगा है, और जब हमारी सांस्कृतिक मान्यताओं, धरोहरो की बात आती हैं तब हम उससे अपने आप को अलग कर लेते हैं, क्योंकि यदि हम उसी संस्कृति को अपनाएंगे जो परंपरागत हैं तो हम आधुनिक नहीं हो पाएंगे, और यदि आधुनिक नहीं हो पाएंगे तो पीछे रह जाएंगे। लोगों की दृष्टि में हम पुरानी विचारधारा में जकड़े हुए लोग हैं ऐसा समझे जाएंगे। इसी कारण अपनी संस्कृति को ताक पर रखकर भी हम आधुनिकता की ओर बढ़े चले जा रहे हैं, लेकिन हम यह भूल जाते हैं कि यह आधुनिकता उस पानी के बुलबुले की तरह है जो एक बनता है तो दूसरा फूटता है और फिर एक नया बनता है, और ऐसी स्थिति में हम नया किसे कहें यह प्रश्न भी है।

भारतीय संस्कृति में सत्य, अहिंसा, त्याग, परोपकार, करुणा, क्षमाशीलता आदि को अत्यंत ही महत्त्व दिया ,जाता है इन सब का समाहारी रूप अंततः मानववाद को पुष्ट करता है और सृष्टि के हित में गतिशील होता है। इस समाहारी संस्कृति के वैशिष्ट्य को बरकरार रखना मीडिया के लिए भी एक उत्तम ध्येय है जिसे प्राप्त करने के लिए उसे कई आयामों पर प्रवृत्तिशील होने की आवश्यकता है। धर्म, अध्यात्म, दर्शन, कला, शिल्प, चिंतन, मनन आदि संस्कृति के कारक तत्वों में शामिल हैं इन के सकारात्मक पहलुओं को संस्कृति का अविभाज्य अंग मानते हुए विश्व भर में प्रचारित प्रसारित करने का दायित्व भी मीडिया बखूबी पूरा कर सकता है। व्यावसायिकता के मोह से परे हटकर मानव सेवा के उद्देश्य को चरितार्थ करने के लिए सांस्कृतिक मूल्यों को बचे रहना बहुत ही आवश्यक है। आज मीडिया के पास वह क्षमता है जो सांस्कृतिक संकट का तथा चुनौतियों का मुकाबला कर सकती है, ओर विश्व भर के मानव समाज को अपनी पहचान का अवसर प्रदान कर सकती है।

संदर्भ सूची

१. लोक साहित्य और संस्कृति दिनेश्वर प्रसाद

२. संचार माध्यम और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया ज्ञानेन्द्र रावत

३. टेलीविजन, संस्कृति और राजनीति जगदीश्वर चतुर्वेदी

४. विश्व मीडिया बाजार डॉक्टर कृष्ण कुमार

.....

सामाजिक विकास में शिक्षा एवम संस्कृति का योगदान

डॉ विक्की

असिस्टेंट प्रोफेसर, शिक्षाशास्त्र विभाग, हर्ष विद्या मंदिर पी.जी. कॉलेज रायसी हरिद्वार

डॉ सुरजीत कौर

असिस्टेंट प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, हर्ष विद्या मंदिर पी.जी. कॉलेज रायसी हरिद्वार

कुलदीप सिंह टण्डवाल

असिस्टेंट प्रोफेसर, शिक्षाशास्त्र विभाग, हर्ष विद्या मंदिर पी.जी. कॉलेज रायसी हरिद्वार

डॉ दीपा त्यागी

असिस्टेंट प्रोफेसर, गृह विज्ञान विभाग, कुंवर प्रभा पी.जी. कॉलेज लालढांग हरिद्वार

साराशं

उत्तराखण्ड राज्य के परिप्रेक्ष्य में देखा जाय तो सामाजिक विकास में शिक्षा के साथ नियमावली पर आधारित विकास को ही विकास के दायरे में रखा जा रहा है, क्योंकि सरकारी संस्थायें सामाजिक सुख, सुविधाओं को मध्य नजर रखते हुए काम करती है, लेकिन उनके काम की सीमायें कानूनी दायरे में सीमित होती हैं। आम समाज को उसका सीधा लाभ नहीं मिल पाता है, समाज व्यक्तियों का समूह होता है, इसमें विभिन्न जातियां, क्षेत्रीयता, धर्मवाद, सम्प्रदाय, के आधार पर विभाजन देखा जाता है। जिससे समाज में लोगों के क्रिया-कलापों, रीति-रिवाजों, पहनावे में भी भिन्नतायें देखी जाती हैं। इस विभिन्नता में शिक्षा और संस्कृति कितना काम करती है, इस शोध पत्र का मूलाधार यह है। क्योंकि शोध पत्र एक सभ्यसमाज के अन्तर्गत होने वाले संगोष्ठियों में परस्पर पढ़े, सुने, जाते हैं। उनका परिणाम, सन्देश समाज में कैसे पहुँचे यह चिन्तनीय विषय है और उसके चिन्तन की बात समाज का कौन सा वर्ग करें, यह एक सामाजिक विकास की समस्या है।

मुख्य बिन्दुः शिक्षा, विकास, संस्कृति, समाज।

सामाजिक विकास समाज मानवों का एक समुदाय है जिसमें सभी प्रकार के मानव एक समुदाय में जीवन यापन करते हैं। समाज में विकास की पहल लगभग आधुनिक युग में अधिकाधिक मात्रा में दिखायी दे रही है। समाज, मानव एक दूसरे के पूरक हैं। समाज के अन्तर्गत कुछ मानव ने विकास के पायदान को निर्धारित किया है। आज का मानव विकासवाद की बात करता है,

और विकास के मुख्य विन्दुओं को निर्धारित करता है।

उदाहरणार्थः- आधुनिक मानव के विकास के मुख्य बिन्दु

१. पाश्चात्य भाषा में बातचीत करना।

२. पाश्चात्य वस्त्रों को पहनना।

३. जलवायु के विपरीत दिशा में जाकर कार्य करना।

४. जलवायु, धरातलीय संरचना को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु प्रभावित करना ।

५. समय परिस्थिति के विपरीत कार्य करना।

ये आज के मानव ने अपने आधार पर विकास के पायदान को निर्धारित किया है, लेकिन चिन्तन करके सोचें तो मानव तथा समाज का विकास पृथक है, तुलसीदास जी ने आधुनिक समय का वर्णन अपने लोकप्रिय ग्रन्थ रामचरित मानस में किया है, कबीरदास जी ने अपने पदों में गाया है, सूरदास जी ने अपने सूरसागर में गाया है। आज जो दिखायी दे रहा है कि समाज का विकास वास्तव में किसे कहते है।

मानव का अपने आप में पूर्णतः मर्यादित होना, मानव समाज का विकास है। आधुनिक भौतिक युग की भोगविलास की दिनचर्या से ओत प्रोत होना नही है। मानव मानव ही रहे वह दात्य राक्षसी प्रवृत्ति मे न जाए, वह देवतुल्य बने, देवीय प्रवृत्ति के जैसे कार्य करें, उसकी देवतुल्य तुलना की जाए।

मानव अपने विकास को अपने तक अपने मानसिक विकास से जाँचे कि वह इस मानव-प्रवृत्ति में है, कि नहीं, वह किसी व्यक्ति विशेष को अनावश्यक समस्यायें पैदा तो नहीं कर रहा है। इसलिए शिक्षा को समाज के विकास में सहायक माना गया लेकिन सामाजिक सर्वेक्षण के आधार पर सामाजिक विकास को मानव ने भिन्न-भिन्न दायरे में विभाजित किया है। इसलिए विकास के मानक को तय करना बहुत जटिल है।

मानव समाज का विकासः

आधुनिक समय में मानव समाज का विकास कौशल, विकास क्षमता, कुशलता के आधार पर समाज का विकास जांचा जा रहा है। लगभग सर्वेक्षण के आधार पर भी सामाजिक विकास में शिक्षा का बड़ा योगदान देखा जाता है, लेकिन सर्वेक्षण की लघु इकाई के प्रथम पायदान पर यह भी पाया गया है, समाज के प्रत्येक वर्ग में भिन्नताओं के साथ समानताओं का भी सामंजस्य सदैव बरक़रार है, सामान्य स्तर हो, पिछड़ा स्तर हो, चाहे उच्च वर्ग हो, मानव स्वभाव, भोग विलास, विलासितायें लगभग मिलती जुलती हैं क्रिया कलाप इस स्तर पर आंकलन की जटिलताएं बहुत अधिक है। लेकिन शिक्षा को समाज के विकास में सहायक माना गया है। जब से लोगों ने स्वतंत्रता के आधार पर शिक्षा प्राप्त करना प्रारम्भ किया, आम समाज में शिक्षा के विभिन्न आयामों को समझाया गया। जैसे प्रौढ़ शिक्षा, सतत शिक्षा, साक्षरता अभियानों को क्षेत्रीय स्तर पर चलाया गया, इससे समाज में परिवर्तन दिखायी दिया। जैसे महिलाओं में हस्ताक्षर करने की सुविधा, इच्छा अनुसार पुस्तकों को पढ़ना, जैसे भजन, कीर्तन की पुस्तकों को पढ़ने की सुविधा, पत्र वाचन, लेखन की सुविधा शिक्षा से ही सम्भव हुई है।

शिक्षा के माध्यम से आम समाज को सुविधायें प्राप्त हुई है, लेकिन सुविधाओं के साथ-साथ समाज में बहुत अधिक अपवाद भी फैले है। जैसे महिला सशक्तीकरण की बात आती है तो किन्ही किन्ही स्थानों पर सशक्त होने से सामाजिक विघटन की समस्यायें भी उभर के आयी है। लेकिन प्राचीन समय से आधुनिक समय तक का आंकलन देखा जाय तो सकारात्मक परिवर्तन देखने को मिले है। जैसे महिलाओं में उत्पीड़न की समस्या कम हुई है। दहेज प्रथा का भी काफी निवारण हुआ है। क़ानूनी शिक्षा से समानता के अधिकारों तक की शिक्षा के पठन पाठन से समाज में सुधारात्मकता दिखायी दे रही है।

वर्तमान समाज में शिक्षा की भूमिकाः

वर्तमान समाज में शिक्षा प्राप्त करने से समाज में काफी जागृति आयी है। समाज में शिक्षा और शिक्षित समाज का एक पृथक सा उदाहरण होता है। समाज और समाज का विकास शिक्षा के द्वारा ही सम्भव हो पाया है।

शिक्षा की भूमिकाः

१. सामाजिक समानता, स्वतंत्रता, शिक्षा के आधार पर सम्भव हो पायी है।

२. सरकारी, निजी संस्थाओं में सेवा करना भी शिक्षा की ही देन है।

३. महिलाओं का घर से बाहर निकलना, समाज में बातचीत करना, अपने अधिकारों के लिए कार्य करना शिक्षा की ही देन है।

४. वृद्धावस्था में पेंशन लेने जाना, अपने पैसों को अपने आप खर्च करना भी शिक्षा की ही देन है।

५. सभी के लिए शिक्षा प्राप्त करना लाभदायक ही है।

सामाजिक विकास में शिक्षा की भूमिकाः

समाज में शिक्षा के द्वारा व्यक्तिगत रूप से महिलाओं में सुधार की स्थिति आयी है। शिक्षा से सुविधायें प्राप्त हुई है। स्वास्थ्य सुविधायें प्राप्त हुई है। विद्यालय आने जाने से समाज में व्यवहार की शिक्षा भी महिलाओ प्राप्त की है। बाल्य देखभाल में मजबूती आयी है। शिक्षित महिलाओं में अपने निणय लेने की क्षमतायें विकसित हुई है। कार्य करने में सुधार की स्थिति आयी है। दहेजप्रथा, उत्पीड़न से बचाव करने में सक्षम हुई है। समाज में समानतायें दिखायी दे रही है। भ्रूण हत्यायें भी कम हुई है। आम व्यक्ति ने भी अपने अधिकारों के बचाव में शिक्षा से सहायता ली है। शिक्षित व्यक्ति ने समाज के विभिन्न दायित्वों को सँभालने की भूमिका निभाने का कार्य किया है।

उत्तराखण्ड राज्य में शिक्षा की भूमिकाः

उत्तराखण्ड राज्य में शिक्षा व्यवस्था की भूमिका के आधार पर ही आज नई शिक्षा नीति और राज्य स्तरीय विकास में शिक्षा की भूमिका अत्यधिक दिखायी देती है। उत्तराखण्ड राज्य में शिक्षित समाज की बहुत अधिक पहल है, शिक्षा के कारण ही आज समाज में सभ्यता का विकास दिखायी दे रहा है। जिससे समाज का प्रत्येक वर्ग शिक्षित हुआ है। महिलायें अपने को गौरव, आत्म सम्मान महसूस करने में सक्षम हुई है, क्योंकि प्राचीन समय में महिलाओं के साथ समाज के विभिन्न वर्गों के साथ असमानतायें दिखायी देती थी। जिससे महिलाओं में हीन मानसिकता स्वतः उत्पन्न होती थी, उसका भी शिक्षा के द्वारा निवारण दिखायी दिया है। इसलिए शिक्षा विकास वाद के लिए अति आवश्यक है। आज लगभग शिक्षा का प्रचार-प्रसार, सरकारी, गैर-सरकारी तरीकों से बहुत तीव्रता से हो रहा है। इसलिए शिक्षा ही विकास की प्रथम पाठशाला है।

शिक्षा और संस्कृति से सामाजिक विकासः

उत्तराखण्ड राज्य में शिक्षा को संस्कृति से जोड़ा गया है, लेकिन इसके समाज पर दोहरे परिणाम प्राप्त होते हैं। शिक्षा से लोगों में आत्मनिर्भरता आयी है, लेकिन एक ओर देखा जाए तो नैतिक मूल्यों का अभाव देखने को मिल रहा है। इसलिए एक सिक्के के दो पहलू स्पष्ट होते हैं, लेकिन विवेक पूर्ण ढंग से निणय ले करके ही शिक्षा की उपयोगिता को उपयोगी बनाया जा सकता है। नैतिक मूल्यों के मूल्य भी बने रहें और सामाजिक विकास के मानक भी पूर्ण हों। हमारी संस्कृति भी सदैव हस्तान्तरित होती रहे, उसी को उचित शिक्षा कहा जा सकता है।

संस्कृतिः

सामाजिक स्तर पर विभिन्न लोगों के समुदाय संगठित सभ्यता के साथ जीवन यापन करते हैं। उन्हीं के बीच में होने वाले सामाजिक क्रिया-कलापों को संस्कृति का दर्जा दिया गया है। वह क्षेत्रीय संस्कृति के नाम से जानी जाती है। उसी संस्कृति में शिक्षा के द्वारा कितना विकास हुआ है, इसका स्पष्टीकरण सामाजिक स्तर से ज्ञात होना जरुरी है। जैसे प्राचीन काल के, और आधुनिक काल के रीति-रिवाजों, क्रिया-कलापों, रहन-सहन, कार्य विधियों में अन्तर स्पष्ट दिखायी दे रहा है, कि परिवर्तन हो रहा है। परिवर्तन अर्थव्यवस्था पर आधारित हो रहा है। आधुनिक समय में तकनीकी और वैज्ञानिक शिक्षा के आधार पर समाज में संस्कृति का भी विकसित स्वरूप दिखायी दिया है। शिक्षा के आधार पर ही सामाजिक परिवर्तन होने की मूलभूत सम्भावनायें होती है। यही परिवर्तन विकासवाद में सम्मिलित किये जाते हैं, संस्कृति का विकासवाद में परिवर्तन होना भी सम्भव है। जैसे-जैसे संस्कृति हस्तान्तरित, पीढ़ी दर पीढ़ी होते जा रहे है, उसमे परिवर्तन और संशोधन दिखायी दे रहे हैं, लेकिन यह परिवर्तन विकास के आधार पर पहनावे में, खानपान में, रहन- सहन में, क्रिया-कलापो में विकसित

स्वरूप से होते हुए दिख रहा है। यही आज के मानव की विचार धारा भी है कि विकास आधुनिक, वैज्ञानिक, तकनीकि के आधार पर हो। हम और हमारा राष्ट्र भी विकसित शिक्षा संस्कृति के आधार पर ही सामाजिक विकास में सम्मिलित हो ।

संस्कृति एक विरासत होती है, उससे व्यक्ति क्षेत्र की प्रत्यक्ष पहचान होती है, इसलिए सामाजिक विकास में संस्कृति की झलक दिखायी देनी आवश्यक है। संस्कृति में विकास को बढ़ाया जाना चाहिए लेकिन संस्कृति के विपरीत कार्य नहीं करने चाहिए। व्यक्ति की पहचान उसकी क्षेत्रीय संस्कृति और पारिवारिक संस्कारों के आधार पर ही मूलतः देखी जाती है। भारत संस्कृति और संस्कारो की धरोहर से ओत-प्रोत एक पृथक राष्ट्र है। इसको विकसित और मजबूती की राह पर ले जाना आम व्यक्ति या आम नागरिक का मूल कर्तव्य है। जिससे हमारी पहचान सदैव सतत विकास, सामाजिक विकास के आधार पर बनी रहे।

संस्कृति के संरक्षण और विकास के लिये शिक्षा

१. स्वाभाविक शक्तियों का विकास - बालक जन्म से ही अनेक प्रकार की स्वाभाविक शक्तियों को लेकर उत्पन्न होता है । शरीर की वृद्धि के साथ-साथ मस्तिष्क की भी वृद्धि होती है, किन्तु जन्मजात शक्तियों के विकास के लिये इतना ही पर्याप्त नहीं है। कहा जाता है कि यदि मस्तिष्क को इस्तेमाल न किया जाये तो उसकी शक्तियों का विकास नहीं हो सकता । अस्तु, शिक्षा का सबसे पहला काम भिन्न-भिन्न प्रकार की उत्तेजनायें और अवसर उपस्थित करके बालक की विभिन्न जन्मजात शक्तियों जैसे- कल्पना शक्ति, चिन्तन शक्ति आदि का समुचित विकास करना है।

२. चरित्र निर्माण - मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मनुष्य के चरित्र की नींव उसके जीवन के प्रथम कुछ वर्षों में ही पड़ जाती है। शैशवावस्था में बालक के मन पर आचार-व्यवहार के विषय में जो संस्कार पड़ जाते हैं, वे ही आगे चलकर उसके चरित्र के रूप में अभिव्यक्त होते हैं।

३. व्यक्तित्व का विकास - बालक के व्यक्तित्व के विकास पर सबसे पहला और स्थायी प्रभाव उसके परिवार का होता है। परिवार में जन्म - क्रम, भाई-बहनों में बालक का स्थान, परिवार की आर्थिक और सामाजिक स्थिति बालक के प्रति माता-पिता का व्यवहार, माता-पिता का परस्पर व्यवहार, माता पिता के व्यवसाय आदि अनेक बातों का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। कहा जाता है कि महापुरूषों के व्यक्ति के निर्माण में उनके माता-पिता की शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान होता है।

४. व्यवस्क जीवन की तैयारी - शिक्षा का एक उद्देश्य जीविकोपार्जन माना गया है। आधुनिक काल में आर्थिक परिस्थितियाँ इतनी जटिल हो गयी है कि समुचित शिक्षा के बिना कोई भी व्यक्ति जीविकोपार्जन का कार्य भली प्रकार से नहीं कर सकता। पहले जब कृषि प्रधान देशों में कार्यों का इतना विशिष्टीकरण नहीं हुआ था तो वयस्क जीवन के लिये शिक्षा का इतनी अधिक आवश्यकता नहीं होती थी, किन्तु आज विभिन्न आर्थिक कार्यों का विशिष्टीकरण और विज्ञान की अभूतपूर्व प्रगति के कारण बिना शिक्षा के कोई भी व्यक्ति किसी भी काम को कुशलतापूर्वक नहीं कर सकता, बल्कि साधारणतया ऊँची नौकरियाँ प्राप्त करने के लिये ऊँची शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य होता ळें

५. सामुदायिक भावना का विकास- मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, इसका एक विशेष अर्थ यह है कि वह समाज में ही रहता है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि मानव शिशु में जन्म से ही सामाजिक गुण पाए जाते हैं। ये सामाजिक गुण उसे सिखाये जाते हैं। अस्तु, शिक्षा का एक मुख्य कार्य बालक-बालिकाओं में सामुदायिक भावना का विकास है।

६. संस्कृति और सभ्यता का संरक्षण और वृद्धि - अन्य पशुओं की तुलना में मनुष्य की प्रगति का एक मुख्य कारण यह है कि नानव समाज में सभ्यता और संस्कृति के रूप में ज्ञान और अनुभव का संचय किया गया है। वर्तमान काल में जन्म लेने वाला बालक हर दिशा में नये सिरे से नहीं सोचता। उसके सोचने-विचारने के ढंग और काम करने के तरीके, रीति-रिवाजों, परम्पराओं और सामाजिक संस्थाओं के रूप में संचित पूर्वजों के

हजारों वर्षों के अनुभव से निर्देशित होते हैं। इसीलिये जिन देशों में संस्कृति जितनी ही अधिक प्राचीन होती है, उनमें मानव जीवन में उतनी ही अधिक व्यवस्था, उतनी ही अधिक स्थायित्व दिखलाई पड़ता है।

७. राष्ट्रीय भावना का विकास - मानव समाज के विकास के लिये विभिन्न राष्ट्र समूहों का सर्वागीण विकास आवश्यक है और यह शिक्षा के समुचित प्रसार के बिना नहीं हो सकता । इसलिये आजकल संयुक्त राष्ट्र संघ की ओर से पिछड़े हुए देशों में शिक्षा की प्रगति के विशेष प्रयास किये जाते है । प्रत्येक देश में राष्ट्रीय भावना का विकास किया जाता है। इससे देशवासी राष्ट्र की प्रगति में सब प्रकार से योगदान देते हैं ।

८. अन्तसांस्कृतिक अवबोध बढ़ाना- जिन देशों में अनेक सांस्कृतिक समूह पाये जाते हैं, वहाँ शिक्षा अन्तर्सास्कृतिक अवबोध बढ़ाने का महत्वपूर्ण कार्य करती है। इससे विभिन्न संस्कृतियों के अनुयायियों को एक-दूसरे को समझने में सहायता मिलती है और राष्ट्रीय एकता बढ़ती है। आज संसार में अनेक संस्कृतियाँ पायी जाती हैं। जब तक शिक्षा के द्वारा इनके अनुयायियों में परस्पर मेल-जोल और सदभावना उत्पन्न नहीं की जाती, तब तक विश्व ऐक्य का

आदर्श पूरा नहीं हो सकता।

९. भावात्मक एकता बढ़ाना- आधुनिक काल में देश में क्षेत्रवाद, जातिवाद, सम्प्रदायवाद, भाषावाद आदि संकीर्ण प्रवृत्तियों के कारण विघटनकारी शक्तियाँ कार्य कर रही हैं। देश को इस विघटन से बचाने के लिये नर-नारियों में भावात्मक एकता उत्पन्न करना आवश्यक है, जिससे लोग अपने को एक ही राष्ट्र के सदस्य नानें और राष्ट्र हित को ध्यान में रखकर कार्य करें और भावात्मक एकता के विकास का यह कार्य शिक्षा के द्वारा सम्पन्न हो सकता है। इस विषय में अनेक शिक्षाशास्त्रियों ने महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किये है।

१०. राष्ट्रीय भाषा का विकास- यद्यपि किसी भी देश में अनेक भाषाओं का बोला जाना और विकसित होना राष्ट्रीय एकता में किसी भी प्रकार से बाधक नहीं है, किन्तु एक सामान्य राष्ट्रीय भाषा का विकास किये बिना राष्ट्रीय एकता स्थापित करना काफी कठिन है, क्योंकि भाषा ही संवेगों और विचारों को अभिव्यक्त करने का माध्यम है। जिस प्रकार विचारों और भावों का घनिष्ठ सम्बन्ध है, उसी प्रकार राष्ट्रीय और भाषा परस्पर सम्बन्धित है ।

११. कर्त्तव्यों की चेतना- किसी भी राष्ट्र की प्रगति के लिये उसके सदस्यों में राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्यों की चेतना आवश्यक है। यह कार्य शिक्षा द्वारा सम्पन्न किया जाता है। विद्यालयों में शिक्षाथिर्यों को राष्ट्र के सदस्य होने के रूप में उनके अधिकारों और कर्तव्यों से परिचित कराया जाता है, उनमें कर्त्तव्यों की चेतना उत्पन्न की जाती है और उन्हें यह बतलाया जाता है कि वे इन कर्तव्यों को किस प्रकार निभा सकते हैं। जनतन्त्र में शिक्षा का यह कार्य विशेष रूप से महत्वपूर्ण है।

उपसंहारः

आजकल अन्य कार्यों के समान संस्कृति की शिक्षा देने का कार्य भी परिवार से अधिक विद्यालय में ही होता है । भिन्न-भिन्न देशों में विद्यालयों में देश की संस्कृति के अनुरूप बालकों को शिक्षा दी जाती है। पाठ्य-पुस्तकों के माध्यम से उनको समूह के विचारों, आदर्शों और मूल्यों आदि से परिचित कराया जाता है। विभिन्न प्रकार के पाठ्यक्रमेतर कार्यक्रमों के द्वारा उन्हें संस्कृति के विभिन्न अंगों की शिक्षा दी जाती है। इन पाठ्यक्रमेतर कार्यक्रमों में नाना प्रकार के खेलों, नाटकों, सामूहिक गान और नृत्य, वाद-विवाद प्रतियोगिताओं, देश-विदेश का भ्रमण आदि के द्वारा बालकों को समूह की संस्कृति से परिचित कराया जाता है। यूँ तो प्रत्येक समाज में परिवार और विद्यालय नई पीढ़ी को समाज की सामान्य संस्कृति सिखाते हैं, किन्तु किसी भी समाज में विभिन्न वर्गों और स्तरों के व्यक्तियों की संस्कृति में न्यूनाधिकार अन्तर देखा जाता है। अरस्तु, बालक को न केवल समाज की संस्कृति, बल्कि उसके विशेष वर्ग और सामाजिक-आर्थिक स्तर की विशेष संस्कृति की भी शिक्षा दी जाती है। इस प्रकार संस्कृति की शिक्षा में बृहद् संस्कृति की शिक्षा के साथ-साथ उपसंस्कृतियों की शिक्षा भी आवश्यक होती है। संस्कृति की शिक्षा से व्यक्ति को अपने प्राकृतिक

और सामाजिक परिवेश से समायोजन करने में सहायता मिलती है । इससे बालक का सामाजिक व्यक्तित्व निर्माण होता है और वह दूसरों से व्यवहार करना सीखता है। इससे उसे जीविकोपार्जन करने तथा जीवन में आवश्यक अन्य कार्यों में भी महत्त्वपूर्ण सहायता मिलती है। इससे वह सामाजिक संस्थाओं को अपनाता है और उनके अनुरूप व्यवहार करता है। इससे उसे जीवन में प्रत्येक अवसर पर व्यवहार के स्पष्ट प्रतिमान मिल जाते हैं । इससे वह समाज का उत्तरदायी सदस्य बनता है । सामाजिक विकास में शिक्षा और संस्कृति की एक मूलभूत भूमिका है। शिक्षा से संस्कृति को विकसित किया जाता है और हस्तान्तरित पीढ़ी दर पीढ़ी किया जाता है। इसलिए इस शोध पत्र में शिक्षा और सामाजिक, क्षेत्रीय, मानवीय संस्कृति का वर्णन किया जाता है। संस्कृति हमारी धरोहर, विरासत, पहचान होती है, इसे संजोना, इसे सुरक्षित हस्तान्तरित करना हमारा कर्तव्य है। इसी से हमारी सामाजिक स्थिति का निर्धारण होता है। इसलिए शोध पत्र का यह सन्देश जन-जन तक पहुंचे कि शिक्षा और संस्कृति पूरक है। यही हमारे विकास के प्रथम पायदान हैं।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. http//scert.cg.gov.in
2. http//scert.cg.gov.in
3. https//hi.m.widipedia.org.wiki.
4. https//w.w.w.uou.ac.in

५. गुप्ता, एस०पी० एवं गुप्ता, अल्का (२००९). शिक्षा मनोविज्ञान, इलाहाबाद : शारदा पुस्तक भवन,

६. त्यागी, गुरसरनदास (२०२०) आधुनिक भारत एवं शिक्षा, श्री विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा - २.

७. पचौरी, गिरीश (२००६), शिक्षा के सामाजिक आधार, आर० लाल० बुक डिपो

८. पाठक, पी०डी० (२००८), शिक्षा मनोविज्ञान, विकास की अवस्थाएँ, आगरा : अग्रवाल पब्लिकेशन्स

९. पाठक, पी०डी० (२०१२), शिक्षा मनोविज्ञान, अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा।

१०. पाठक, पी०डी० (२०२०), बाल्यावस्था एवं बड़ा होना, श्री विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा-२

११. रुहेला, एस. पी. (२००५), विकासोन्मुख भारतीय समाज में शिक्षक और शिक्षा, श्री विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा - २

१२. सक्सेना, एन० आर० स्वरूप, (२०१०) शिक्षा क दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, आर० लाल० बुक डिपो

साहित्य और फिल्मों में जम्मू कशमीर का प्रतिनिधित्व

डा.अली अहमद इदरीसी

वर्तमान परिवेश में कशमीरियत को लेकर एक धारणा व्याप्त है कि इसका दायरा सिर्फ इस्लाम धर्म में संनिहित है जबकि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह तथ्य गलत है। कशमीर हिन्दू, बौद्ध और इस्लाम धर्म की साझी संस्कृति रही है। जमाना ए-कदीम या पुरातन काल में काशमीर को श्रृषिभूमि या शारदा पीठ भी कहा जाता था। कशमीर को सूफियों, संतों और श्रृषि-मुनियों की सरज़मीन भी कहा गया है। लेहाजा कह सकते हैं कि काशमीरियत महज एक लफ्ज़ा नहीं बल्कि एक संस्कृति का नाम है। इसी सबब कल्हण ने अपने संस्कृत ग्रंथ 'राजतरंगिणी' में लिखा है कि कशमीर को अध्यात्मिक ताकत से जीता जा सकता है, सैन्य शक्ति से नहीं। ११८४ ई. पूर्व (क़ब्ल मसीह) के राजा गोनंद से लेकर राजा विजयसिम्हा (११२९ ई.) तक के कशमीर के प्राचीन राजवंशों का प्रामाणिक इतिहास 'राजतरंगिणी' में बयान किया गया है।

कशमीर को शैव मत का गढ़ माना गया है उस दौर में मम्मट, बिलहण, आनंदवर्धन आदि दानिशवरों ने संस्कृत साहित्य खासकर अलंकार शास्त्र में नाकाबिले फरामोश कारनामा अंजाम दिया। शैव दर्शन और साहित्य को उजागर करने में कशमीरी ब्राह्मणों की खिदमात तारीख का सुनहरा बाब है जहाँ गुणाढ्य पंडित ने वृहत्कथा तसनीफ की तो दूसरी तरफ विष्णु शर्मा ने पंचतंत्र की कहानियाँ इसी सरजमीन पर बैठकर लिखी- इस लेख में जम्मू कशमीर के उन मुमाइंदा साहित्यकारों का वर्णन किया जाएगा जिन्होंने साहित्य व फिल्म दोनों उद्भुत योगदान दिया।

कशमीर की अव्वलीन शायरा (कवित्री) शैवयोगिनी ललधद (ललेश्वरी) अपनी साझा संस्कृति के लिए प्रेरणास्रोत रही है। वह एक संत कवित्री थी शैव धर्म के प्रचार-प्रसार में इनका योगदान अतुलनीय है। ललेश्वरी ने हिंदू और मुसलमानों में दरार पनपने नहीं दिया और इनके बीच प्रेम भाव को कायम करने के लिए सदैव अग्रसर रहीं और सफल भी हुई। उन्होंने कहा कि शिव सर्वत्र व्याप्त है वह किसी में भेदभाव नहीं करते फिर तुम क्यों हिन्दू और मुसलमानों में तफरीक करते हो, ललेश्वरी का तकाबुल अकसर संत कबीर से किया जाता है। चौदहवीं सदी से लेकर अठारहवीं सर्दी तक मुख्तलिफ बादशाहों ने कशमीर पर हुकूमत की और इन अदवार में बहुत से नशेब-व-फराज़ा आये मगर यहाँ की साक्षी संस्कृति पर इन सबका कुछ खास प्रभाव नहीं पड़ा इसका कारण शायद यह रहा कि समद मीर, शाह गफूर, असर परे जैसे सूफी संतों ने हिन्दू मुसलिम भाईचारे पर काफी जोर दिया और हर हाल में साक्षा विरासत को बचाये रखने का प्रयास करते रहे। जम्मू कशमीर में साहित्य की तारीख़ को आमतौर से पांच अदवार में तक़सीम किया जा सकता है जाहिर है हम हर दौर का, तफसीली जायजा नहीं पेश कर सकते क्योंकि हर दौर में साहित्य की तारीख़ बहुत वृहद है अपितु मखसूस शायर कवि और लेखकों को वर्णन अपेक्षित है।

आदिकाल (१२५०-१४००) इस काल में संतों की मुत्कफ वाणी आम और खास रही है जिसमें शैव दर्शन, तसन्वुफ, सहजोपासना, सदाचार, अध्यात्मसाधना, पाखंड, प्रतिरोध और आडंबर त्याग का प्रतिपादन और प्रवचन ही अधिक

रहा और इन्हीं विचारों पर जोर दिया गया। इस काल की रचनाओं में शितिकंड का महानय प्रकाश और ललेशवरी के वाख, नुंध्र्यीश के श्लोक का जिक्र किया जा सकता है। गीतिकाल (१५००-१७५० ई.) इस काल में बहुत से सूफी संतों का उदय हुआ है जिनकी रचनाओं और वेदना गीतों में लोकजीवन के विरह मिलन का वह का वह करुण मधुर सरगम सुनाई पड़ता है जो एकाकी में अनेकता का परिचायक है। इसी काल में हबीबुल्लाह नौशहरी के जरिये सूफी रहस्यवाद का स्वर भी उजागर हुआ और साहिब कौल के कृष्णावतार में लाला काव्य की भी उद्धावना हुई। तमामतर सूफियानाकलाम की तखलीक इसी दौर की पैदावार है। हब्बा खातून इसी काल की देन हैं जिनके गीत आज भी कशमीर की वादिों में गूंजते रहते हैं और बेहद लोकप्रिय है। प्रेमाख्यान काल (१७५०-१९०० ई.) इस दौर को हम मसनबी का काल कह सकते हैं। एक ओर रामचरित, कृष्णलीला, पार्वतीपरणय दमयंती स्वयंवर आदि अख्यानों पर मार्मिक लीलाकाव्य रचे गये दो दूसरी जानिब फारसी मसनवियों के रूपांतरण के अतिरिक्त अरबी, उर्दू और पंजाबी मसनवियों से भी मवाद लिया गया साथ ही साथ कुछ ऐसे मज़हबी प्रगीतों की भी रचना हुई जिनमें लौकिक अथवा अलौकिक प्रेम के उदभुत चित्रण के साथ-साथ पारिवारिक वेदना को भी पेश किया गया है। रमजान बट का अक नंदुन, प्रकाशराम का रामायण, महमूद गामी का शीरीन खुसबरव, युसुफ जुलेखा, अर्जाजुल्लाह हक्कानी की मुमताज बेनजीर, कृष्ण राजदान का शबलगत वगैरह इस दौर की अहम तसनीफात है। आधुनिक काल (१९०० से वर्तमान) वर्तमान में यहां की कृतियों में कशमीर के निर्माण की मूलभूत अपेक्षाओं को मुकम्मल करने आर्थिकल प्रजातंत्र की स्थापना, आलमी सतह पर अमन कायम करने पर जोर दिया जाने लगा है। इन अहम मौज़ूआत पर शायरी ही नहीं बल्कि गीतिनाट्य और नृत्यगीत की भी तखलीक हो रही है। गुलाम अहमद मजदूर, अब्दुल अहद आजाद, दीना नाथ नादिम वगैरह के नाम काबिले जिक्र है। मादिम साहब को १९८६ में साहित्य एकेदमी के इनाम से भी नवाज़ाा जा चुका है। नसर या गद्य में लिखने वालों की भी एक लम्बी फहरिस्त है हालांकि जो तरक्की शायरी के जिम्न में हुई है वह गद्य में नहीं हुई है फिर भी अली मो. लोन, दीपक काल, हृदय कौल भारती, उमेश कौल और वंशी निर्दीष के नाम काबिले जिक्र है जिन्होंने कहानियां उपन्यास या नावेल में अपना मुनफरिद मुकाम बनाया है।

इस तरह से जम्मू काशमीर में साहित्य के मुकाम और अहमियत का जिक्र करने के लिए हमें संस्कृत साहित्य से सोमदेव, आनंदवर्धन, वसुगुप्त, क्षेमराज, बिष्हण वगैरह जैसे अदीबो और दानिश्वरों का जिक्र करना लाज़ामी होगा इसी तरह कशमीरी जुबान में लब्बेश्वरी हब्बा खातून, रसूल मीर, गुलाम अहमद महजूर, परमांनंद और दीनानाथ नादिम वगैरह का नाम लेना होगा। हिंदी लेखकों में चंद्रकांता, सुभाष काक, अग्नि शिखर, सरोजिनी काक, फूल चन्द्रा वगैरह अहम है। और आखिर में उर्दू के दो तीन नामवर शायर लेखक जिनके बगैर वादी की कोई तारीख़ मुकम्मल नहीं हो सकती वह है। इकबाल, बृज नारायण चवबस्त मुकम्मल नहीं हो सकती वह है। इकबाल, वृज नारायण चवबस्त सआदतहसन मन्टो और कृष्ण चन्द्र।

मौजूदा दौर में कुछ नामचीन हस्तियों का भी जिक्र जरूरी है जिन्होंने अपनी लेखनी के सबब कौमी और बैन अअकवामी सहत पर भारत का नाम रोशन किया है इनमें एक कुलदीप कुमार कौल जी है यह पेशे से ळमवजमबीदपबंस म्दहपदममत हैं। इनकी दो कृतियां अहम हैं 'क्वमे प्दकपं दममक कपबजंजवतश् । इवनुनमज वि ंत्दकवउ जीवनहीजण् जितेन्द्र उधमपुरी डोगरी, हिंदी और उर्दू जुबान में लिखते हैं और इन्हें १९८१ साहित्य अकेदमी सम्मान भी मिल चुका है भारत सरकार ने २०१० में इनकी खिदमात के लिए इन्हें पद्यमश्री से भी नवाजा है। पिंदे दी बारात, बस्ती बस्ती, फूल उदास है, उनकी अहम वृतियां हैं इनकी रचनाओं का अनुवाद सिजे॰क जुबान में भी हो चुका है। जैमीपेजवतल वि क्वहंतप सपजमतंजनतम ंदक जीम भ्पेजवतल वि क्वहतं ब्रसजनतम इनकी अहम तसनीकात है। पदमा सचदेव डोगरी जुबान वर्ग की पहली अददि खातून शायरा है जिनके नाम कई काव्य संग्रह है जिनमें 'मेरी कविता मेरे गीत' अहम है। १९७१ में इन्हें साहित्य अकादमी एवार्ड और २००१ में पद्यमश्री अवार्ड से सम्मानित किया जा चुका है। बालीवुड अदाकरार कुनाल खेमू के दाद मोती लाला खेमू एक अहम ड्रामा निगार की ऐसियत से जाने जाते हैं उनके बहुत से ड्रामे कामयाबी की नई बुलंदियों को छुआ है। २०१२ में इन्हें पद्यमश्री

से नवाजा गया। जावेद राही एक ऐसा नाम है जिन्होंने कम से कम तीन सौ किताबें गुज्जर कल्चर और गोजरी इतिहास के बारे में या तो लिखी हैं या एडिट की है। गोजरी लोकगीत, गुज्जर और गोजरी इनमें अहम हैं। ड्रामा निगारी के हवाले से आगा हस्र काशमीरों का नाम सरे फहरिस्त है इनकी कृतियों में यहूदी की लड़की, सफेद खून, बूबसरतबाल आंख का नशा वगैरह बेहद अहम है। इनके अलावा सीता बनवास भी इनकी प्रसिद्ध रचना है। अफसाना निगार मंटो के अफसाने टोबा टेक सिंह खोल दो, काली ालवार को कौन भूल सकता है जिसमें बटवारें के वाक्यात को बड़ी शिद्दत के साथ पेश किया गया है। कृष्ण चंद्र एक ऐसे कहानिकार हुए हैं जिनकी लेखनी में शायरी के अनासिर मौजूद हैं ऐसा प्रतीत होता है कि यह कोई कहानी या नावेल न लिखकर कोई शायरी लिख रहे हैं। मेरी यादों के चिनार और शिकस्त इसके मशहूर नावेल हैं जबकि कालू भंगी, एक गधे की सरगुजिस्त वगैरह इनके मशहूर अफसाने है। इन्होंने बहुत सी फिल्मों में पटकथा भी लिखी है। बृजनारायण चकबस्त के आजादी के तरानों को कौन भुला सकता है जिसमें वह हिन्द वासियों को ललकारते हैं। एक नज्म की कुछ पंक्तियां पेदश करता हूँ।

गौतम ने आबरु दी इस माबुदे कोहन को-सरम ने इस जमीं पर सदके किया वतन को अकबर ने जामे उल्फत बख्याा इस अंजुमन को सीचा लहू से अपने राना ने इस चमन को सब शूरवीर अपने इस जक में निहां है- टूटे हुए खंडहर हैं या उनकी हड्डीया हैं। बरसों से हो रहा बरहम समां हमारा-दुनियां से मिट रहा है नामन न निशा हमारा कुछ कम नहीं अजल से ख्वाबे गिरां हमारा- एक साश बेकफन है हिन्दुस्तान हमारा इसके भरे खजाने बर्बाद हो रहे हैं- जिल्लत नसीब दवाबे गफलत में सो रहे हैं, इसी तरह इकबाल-आगैरियत-

फिल्मों के हवाले से राहुल भट्ट, आमीर वशीर, अनुपम खेर, जापरा वसीम के नाम लिये जा सकते हैं जबकि अल्लाह रखा, पंडित शिवशंकर शर्मा जैस संगीतकारों ने इस वादी का प्रतिनिधित्व किया ळै, निधि राजदान, सुजात बुखारी जर्नलिज्म के हवाले से मशहूर हैं इसलिए सूं - श्रनेजपबम और क्ममिदबम में बड़ी-बड़ी विभूतियां हुई हैं या वर्तमान में कार्यरत हैं जिन्होंने जम्मू काशमीर को सम्मानित करते हुए अपने प्रदेश का नाम रोशन किया है इस तरह हम कह सकते है कि जम्मू कशमीर का प्रतिनिधित्व हर क्षेत्र में बढ़ चढ़ कर हुआ है और यह सिलसिला जारी है।

डा.अली अहमद इदरीसी

Dr. Ali Ahmad Idrisi

Department of Urdu

University of Delhi

Delhi- 110007

9891129986

idrishi077@gmail.com

'ढलती सांझ का सूरजः किसान जीवन की त्रासदी'

आकांक्षा मिश्रा

शोध छात्रा,(हिंदी-विभाग)
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
EmailId-priyaom01012001@gmail.com
Mobile No.6392426660
Address- Hall of Residence, Women's Hostel, University OF Allhabad
Lalla chungi,Bank Road,Prayagraj, Utter Pradesh,211002

भारत एक कृषि प्रधान देश है ।किसान देश का आधार है यदि वही टूट गया तो देश और सभ्यता स्वयं ही टूट कर बिखर जाएगा।किसानों की उन्नति से ही देश की उन्नति संभव है ।भारत की अर्थव्यवस्था में कृषि की महत्वपूर्ण भूमिका है ।कृषि हमारे आर्थिक ,सामाजिक और आध्यात्मिक उन्नति का माध्यम रही है ।भारत के लोग कृषि को उत्सव के रूप में मनाते हैं। प्रकृति एवं पर्यावरण की रक्षा के दायित्व का निर्वहन, जिसमें नदी ,पहाड़ ,पशुधन जीव-जंतु की रक्षा की जिम्मेदारी निभाना, जीवन के महत्वपूर्ण आध्यात्मिक कार्य का हिस्सा रहा है। पहले किसान जी तोड़ मेहनत के बाद भी सामाजिक शोषण का शिकार होता था क्योंकि उस दौर में किसान साधनहीन और आर्थिक रुप से कमजोर होने के कारण शोषित होता था। आजकल का किसान शिक्षित और कृषि तकनीक की जानकारी के साथ-साथ साधनसंपन्न है लेकिन कृषि विपरण अव्यवस्था और राजनीतिक स्थितियों ने किसान को कमजोर बना दिया है।वैश्वीकरण के दौर में किसानों के पास अनेक संभावनाएं और अवसर हैं लेकिन अतिशय भौतिकता के कारण यह भूल जाता है कि आज भी हमारा जीवन प्रकृति से जुड़ा है।

भारत का किसान एक ऐसी ही शाश्वत विडंबना का जीवंत प्रतीक है, जिसकी नियति वक्त ,हुकूमत या मौसम के बदलने से नहीं बदली। कहने को वह अन्नदाता है, जिसके श्रम के बदौलत हमारा चौका गुलजार रहता है, लेकिन उसे स्वयं दो जून की रोटी के लिए साल भर जद्दोजहद करनी पड़ती है।आज हमारा देश हर क्षेत्र में उन्नतिशील हो गया है लेकिन यह बात अचरज में डालने वाली हो सकती है कि वैश्वीकरण ,उदारीकरण और इंटरनेट क्रांति के दौर के बाद भी जिस देश को कृषि प्रधान कहा जाता है और जिसकी आत्मा गांव में बसती है, वहां समाज का एक तबका अगर पीछे छूट गया तो वहां खेतों में हल चलाने वालों का ही है, कारण ढूंढना मुश्किल नहीं। किसानी फायदे का सौदा होना तो दूर, आजादी के इतने साल बाद भी एक छोटे परिवार के भरण-पोषण का जरिया न बन पाया ।अगर बड़े किसानों को छोड़ दें जिनके पास सारी मूलभूत सुविधाएं हैं,विशेषकर उस धनाढ्य वर्ग को जिसे कागज पर किसान की संज्ञा मिलने मात्र से आयकर में छूट मिलती है ।

देश का किसान दशकों से सूखे ,भूमि के गिरते पानी के स्तर, लागत की तुलना में उत्पादकता का न होना, हर वर्ष फसल लागत का बढ़ना आदि समस्याओं से जूझ कर खेती कर रहा है। इसके बाद भी यदि उसे उसके उत्पादन का उचित मूल्य नहीं मिल पाता तो उसे निराशा ही हाथ लगती है इस पर यदि फसल को मौसम की मार लग गई तो उसे फसल की लागत भी नहीं मिल पाती जिससे वह फसल उत्पादन में किए गए कर्ज को वापस देने की स्थिति में भी नहीं रहता। यह स्थिति देश के सभी किसानों की है। देश का दुर्भाग्य है कि खेती ही

ऐसा धंधा है जिसमें उत्पादक अपने उत्पाद का मूल्य स्वयं तय नहीं करता न ही उपभोक्ता करता है बल्कि बिचौलिये पूरा खेल खेलते हैं। यदि किसान को यह मूल्य निश्चित रूप से मिले तो आने वाले समय में वे कर्ज माफी की अपनी मांग को सरकार के सामने नहीं रखेंगे ।परंतु फसल की लागत की गणना में पारदर्शिता होनी चाहिए।किसान तथा उसके परिवार के सदस्यों द्वारा फसल उत्पादन में दिए गए समय का मूल्यांकन ईमानदारी से होना चाहिए। किसान के श्रम का मूल्यांकन एक मजदूर के रूप में न होकर एक प्रबंधक के रूप में होना चाहिए। तभी देश के किसान को आत्मसम्मान मिल पाएगा और उसके जीवनस्तर में कुछ सुधार हो पाएगा। देश की लगभग आधी जनसंख्या खेती पर निर्भर रहती है ।जब तक यह पचास प्रतिशत जनसंख्या समृद्ध नहीं होगी तब तक देश समृद्ध नहीं हो सकता। इस जनसंख्या का जीवन स्तर फसल की उत्पादकता तथा उसके मूल्यों से जुड़ा हुआ है ।इसमें किसी भी कारण से आई गिरावट किसानों के जीवन को प्रभावित कर आंदोलन को जन्म देगी।

सेंटर फॉर साइंस एंड एनवायरमेंट और डाउन टू अर्थ की सालाना रिपोर्ट स्टेट ऑफ इंडियाज एनवायरमेंट २०२३ इन फिगर्स बताती है कि देश में औसतन हर साल ३० किसान व खेतिहर मजदूर (कृषि श्रमिक) आत्महत्या कर रहे हैं। अकेले १९ राज्यों में किसानों ने २०२१ में आत्महत्या की, जबकि २०१९ में यह आंकड़ा २० था।

इसके अलावा ९ राज्यों में किसानों की आत्महत्या २०२० और २०२१ के बीच बढ़ी है। असम में इस अवधि के दौरान किसान आत्महत्या की दर १३ गुणा बढ़ी है।

रिपोर्ट के मुताबिक देश में किसानों की आत्महत्या के आंकड़ों में कमी आ रही है, लेकिन आत्महत्या करने वालों में कृषि श्रमिकों की संख्या बढ़ रही है। साल २०२१ में ५,३१८ किसानों ने आत्महत्या की, जबकि २०२० में ५,५७९ किसानों ने आत्महत्या की थी। इसके अलावा २०२० में ५,०९८ कृषि श्रमिकों ने आत्महत्या की थी, जबकि २०२१ में ५,५६३ कृषि श्रमिकों ने आत्महत्या की।

नेशनल क्राइम रिकॉर्ड ब्यूरो की रिपोर्ट में आत्महत्या के कारणों पर प्रकाश नहीं डाला गया है, लेकिन २०१६-१७ में सरकार की एक अन्य रिपोर्ट में इसके तीन कारण बताए गए हैं। पहला- मॉनसून की अनिश्चितता से फसलों को नुकसान, दूसरा- जल संसाधनों का अभाव तीसरा- कीटों का हमला अथवा रोग।

राष्ट्रीय अपराध लेखा कार्यालय के आँकड़ों के अनुसार भारत भर में २००८ ई. में १६,१९६ किसानों ने आत्महत्याएँ की थी। २००९ ई. में आत्महत्या करने वाले किसानों की संख्या में १,१७२ की वृद्धि हुई। २००९ के दौरान १७,३६८ किसानों द्वारा आत्महत्या की आधिकारिक रपट दर्ज हुई। 'राष्ट्रीय अपराध लेखा कार्यालय' द्वारा प्रस्तुत किये गए आँकड़ों के अनुसार १९९४ से २०११ के बीच १७ वर्ष में ७ लाख, ५० हजार, ७६० किसानों ने आत्महत्या की है।

भारत में धनी और विकसित कहे जाने वाले महाराष्ट्र में अब तक आत्महत्याओं का आँकड़ा ५० हजार ७६० तक पहुँच चुका है। २०११ में मराठवाड़ा में ४३५, विदर्भ में २२६ और खानदेश (जलगाँव क्षेत्र) में १३३किसानों ने आत्महत्याएँ की है।

आंकड़े बताते हैं कि २००४ के पश्चात् स्थिति बद से बदतर होती चली गई। १९९१ और २००१ की जनगणना के आँकड़ों को तुलनात्मक देखा जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि किसानों की संख्या कम होती चली जा रही है। २००१ की जनगणना के आंकड़े बताते हैं कि पिछले दस वर्षों में ७० लाख किसानों ने खेती करना बंद कर दिया।

२०११ के आंकड़े बताते हैं कि पाँच राज्यों क्रमशः महाराष्ट्र, कर्नाटक, आंध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश और छत्तीसगढ़ में कुल १५३४ किसान अपने प्राणों का अंत कर चुके हैं।

सरकार की तमाम कोशिशों और दावों के बावजूद कर्ज के बोझ तले दबे किसानों की आत्महत्या का सिलसिला नहीं रूक रहा। देश में हर महीने ७० से अधिक किसान आत्महत्या कर रहे हैं।

किसानों को आत्महत्या की दशा तक पहुँचा

देने के मुख्य कारणों में खेती का आर्थिक दृष्टि से नुकसानदायक होना तथा किसानों के भरण-पोषण में असमर्थ होना है।

कृषि भारत की अर्थव्यवस्था को मजबूत बनाने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है और आबादी के एक महत्वपूर्ण हिस्से को आजीविका प्रदान करती है। जब एक उद्योग इतनी सारी दिशाओं से एक राष्ट्र को समृद्ध बनाता है तो इसको विकसित करने का भार सबके कंधों पर आता है।

तकनीकी ज्ञान, फसल संरक्षण, प्रगतिशील खेती तकनीक, उपयोगकर्ता बायोलॉजिकल उत्पादों का प्रचार और उनकी उपयोगिता को संवारना कुछ ऐसे उपाय है जिनकी वजह से किसान कम जमीन पर भी उच्च स्तर की खेती कर सकते है। किसानों के लिए वित्तीय सहायता और लोन की पहुंच को बढ़ावा देना भी ज़रूरी है।

कृषि के प्रति नई पीढ़ी में रुचि का अभाव देखा जा सकता है।भारतीय किसानों पर किए कई सर्वे में यह सामने आया है कि ५०इ किसान अपने बच्चों को किसानी नहीं करवाना चाहते। साथ ही, नई पीढ़ी में खेती के प्रति कम रूचि है। हालाँकि, आज भी कृषि से देश का ४९इ रोजगार उपलब्ध होता है पर आने वाले समय में यह बड़ी समस्या हो सकती है। कृषि मशीनीकरण को इसके समाधान के तौर पर देखा जा सकता है। साथ ही पढ़ी-लिखी नई पीढ़ी की जैविक खेती में रुचि और उनके वैज्ञानिक तरह से कृषि का लाभ उठाने वाले किस्से नई आस जगाते हैं।

सरकारें कई योजनाएं बनाती हैं पर उनका पूरा लाभ किसानों तक नहीं पहुंच पाता। पहले तो किसानों में योजनाओं के प्रति जागरूकता की कमी है अगर जागरूकता हो भी तो सरकारी अफसरों के भ्रष्टाचार और कागज़ी झंझटो का सामना करना पड़ता है। समस्या गंभीर है पर जैसे-जैसे किसान शिक्षित होते जाएंगे और सरकारी संस्थाओं का डिजिटलाइजेशन होगा ।इस समस्या का भी समाधान हो जाएगा। इसके साथ ही, हमें लगता है कि भारत सरकार को समय-समय पर जागरूकता अभियान चलाने चाहिए।

किसान हमारे अन्नदाता है।उनकीआत्महत्या पूरे राष्ट्र के लिए शर्म की बात है । देश की केंद्र सरकार तथा राज्य सरकारों को किसानों की आत्महत्या रोकने के लिए युद्धस्तर पर प्रयत्न करने की आवश्यकता है।भारत जैसे कृषिप्रधान देश में यदि किसानों की ऐसी अवस्था हो तो हमारी प्रगति और विकास की सारी बातें, हमारी सारी उपलब्धियाँ अर्थहीन हैं । देश के अर्थशास्त्रियों, देश की सरकार को सबसे पहले इसी पर पूरा ध्यान केन्द्रित करना चाहिए ।

मधु कांकरिया का उपन्यास 'ढलती सांझ का सूरज' में महाराष्ट्र के किसानों की आत्महत्या, कर्ज में दबे किसानों की समस्या को बड़ी सूझ-बूझ और मनोयोग से चित्रित किया है। उन्होंने किसानों की आत्महत्या के कारणों को भूमंडलीकरण से जोड़ा है। आज बड़ी संख्या में किसानों की आत्महत्या पूरे तंत्र पर सवालिया निशान है।

इस उपन्यास में किसी एक किसान ,किसी एक परिवार, किसी एक गांव या फिर किसी एक खेती-किसानी की समस्या की कथा नहीं है बल्कि आज के सभी किसानों की समस्या की कथा का आख्यान है। यह उपन्यास शुरू से अंत तक हमें जीवन की दुश्वारियों से , त्रासदियों से, विद्रूपताओं और विडम्बनाओं से रूबरू करता है।

इस उपन्यास के कथानक की शुरुआत एक सपने से होती है जिसे देखने के बाद उपन्यास का नायक अविनाश हैरान-परेशान हो अपनी मां की स्मृतियों में खोता हुआ नजर आता है। उसे अपनी मां की याद आने लगती है और अनहोनी की आशंका से वह घिर जाता है ।वह तय करता है कि वह भारत जाकर अपनी मां से जरूर मिलेगा। भारत में आए हुए उसे बीस वर्ष हो चुके है, इन बीस वर्षों में वह एक बार भी मां से नहीं मिला। वह भारत आता है लेकिन मां उसे नहीं मिलती है। मां को खोजने के क्रम में वह महाराष्ट्र के गांवों में जाता है ,बोधगया से कन्याकुमारी तक की यात्रा करता है लेकिन मां उसे फिर भी नहीं मिलती है। मिलती भी कैसे मां की मृत्यु तो अड़तालीस दिन पहले ही हो चुकी थी ।मामा कहते हैं 'शायद कहीं उनके दिमाग में यह था कि जैसे लोगों के दुख में शामिल होकर उन्होंने अपने निजी दुखों से राहत पाई थी वैसे ही तुम्हें उनकी मौत का सदमा लगे

उससे पहले कि तुम यहां के लोगों के दुःख इतने करीब से देख लो कि अपना निजी दुःख तुम्हें कमतर लगे।'

इस यात्रा के दौरान अविनाश का महाराष्ट्र के गांवों पारतुल ,बाबुलतारा, बलखड़े में तंगहाली में जीवन काट रहे किसानों से सामना होता है। वहां उसे किसानों की दयनीय स्थिति का पता चलता है, आए दिन कोई न कोई किसान आत्महत्या करने के लिए मजबूर होता है ।जो किसान अन्न के उत्पादक हैं जो लोगों के पेट भरने का माध्यम है उन्हीं किसानों के पेट के गड्ढे को भरने वाला कोई नहीं।

उपन्यास का एक पात्र कहता है-' क्या रखा है खेती में? खेती की रेत में रेत हो रहा जीवन, पूरी जिंदगी अच्छी फसल बुरी फसल के नाम। सूखा-डूब के नाम। बारिश अच्छी हो तो अच्छी धूप की चिंता और धूप अच्छी मिले तो रात-रात जाग -जागकर जंगली जिनावर से खेतों की रखवाली की चिंता ,उससे निपटे तो कर्जदारों से फसल बचाने की चिंता। पूरी जिंदगी आसमान देखते हुए और तरह-तरह की चिंता में घूमते हुए ही कटे।'

आजकल किसान इतनी तेजी से आत्महत्या कर रहे हैं कि कोई अपनी मुलगी (बेटी)का विवाह नहीं करना चाहता इस डर से कि कहीं मुलगी विधवा ना हो जाए।

अविनाश जब अपने मामा के साथ कामथड़ी गांव पहुंचता है तो खबर मिलती है किसान कदंब सावंत ने आत्महत्या कर ली ।मामा कहते हैं पिछले सप्ताह कलेक्टर ऑफिस में मुआवजे के सिलसिले में गया था लेकिन जलील होने के सिवा कुछ हाथ न लगा। उसको नगदी की आवश्यकता थी। उसके पास जो बकरियां थी वह भी बिक गई थी ।कर्ज भी अब और मिलना मुश्किल था। मैंने कहा कपास हो गया है इसे बेचकर कुछ तो लाभ होगा। लेकिन न फसल ही खास हुई और न ही समर्थन मूल्य घोषित हुआ। कई बार मंडी गया। मंडी में जो खुले रेट थे वह बेहद कम थे। इतने कम दाम में बेचने की हिम्मत नहीं हुई ।आने -जाने का खर्चा अलग से हो गया। जब घर वापस आया तो कर्जा वसूलने वाले सामनेऊ। कर्जा चुकता करने की कोई उम्मीद नहीं बची थी इसलिए उसने आत्महत्या कर लिया।

उपन्यास का एक पात्र बाबा साहब कहते हैं-

'कुछ पता नहीं चलता मनुष्य के मन का कुछ तो बदला है इन सालों में ।पहले किसान टूट-टूट कर जुड़ जाता था, अपनी ही राख झाड़कर खड़ा हो जाता था।फसलें तो पहले भी खराब होती थीं, बारिश पहले भी दगा देती थी, पर तब किसान उम्मीद, जद्दोजहद और एक हौसले का नाम था पर आज जिल्लुत और अपमान से भरी परिस्थितियां इस कदर कोंच-कोंच कर मार रही हैं उसकी गरिमा को कि वह उठकर खड़े होने की बजाय उठ जाना पसंद करने लगा है–।'

किसानों को मुआवजा न देने के उपाय में जुटे पुलिसकर्मी मृत किसान को पात्र -अपात्र घोषित करने के लिए नए-नए कारणों की तलाश कर रहे हैं।

मधु जी कहती है -

'पुलिस तहकीकात कर रही है और यह सिद्ध करने में लगी है कि यह आत्महत्या कर्जे के चलते नहीं वरन् घरेलू क्लेश के चलते हुई थी इसीलिए वह कर्जमाफी का सुपात्र नहीं है।–सारी जिंदगी हड्डी तोड़ मेहनत के बावजूद क्या मिला उसे?साले मौत पर सवाल उठा रहे हैं ।अरे चीर कर देखो उसकी देह को, आंख होगी तो देख सकोगें क्या थी उसकी उम्र भर की कमाई-जख्म,अपमान, ठोकर ,लू, पसीना, सूखा ,बाढ़-।'

आज के समय में मीडिया का पक्षपातपूर्ण रवैया किसी भी लोकतंत्र के लिए खतरा ही है ।आर्थिक लोकतंत्र भी पक्षपातपूर्ण मीडिया की वजह से खतरे में रहता है मीडिया के अधिकतर कर्मचारी एवं मीडिया मालिक कारपोरेट घराने से ताल्लुक रखते हैं इसीलिए यहां पर राजनीतिक एवं कारपोरेट घराने की एक तुकलक ही नजर आती है जो कि एक-दूसरे के हित साधने में लगे रहते हैं इसका परिणाम यह होता है कि मीडिया के लोग अपना एवं राजनीतिक हित साधने के लिए गांव की समस्याएं; किसानों की आत्महत्या, बेरोजगारी आदि मुद्दे को अपने न्यूज़ चैनल में कोई वरीयता नहीं देती। इसका एक कारण यह भी है कि अधिकतर मीडिया कर्मी बड़े-बड़े शहरों से संबंध रखते हैं तो ग्रामीण क्षेत्रों में इनके कवरेज को जगह नहीं मिल पाती । जो समाचार ज्यादा टीआरपी जनरेट करते हैं उनको अधिक बार दिखाया जाता है जबकि उल्लेखनीय समाचारों को उपेक्षित कर दिया जाता है ;जैसे-कई क्षेत्रों

में आई बाढ़, सूखा ,चक्रवात आदि समस्याएं मीडिया के लिए कवरेज नहीं बन पाती।

लेखिका मीडिया के करतूतों का पर्दाफाश करते हुए कहती हैं-'१९९७ से अब तक दो लाख किसान आत्महत्या कर चुके थे लेकिन अभी तक मुख्यधारा के मीडिया के लिए यह कोई मुद्दा नहीं था। विश्व के सबसे तेज और आगे बढ़ते हमारे मीडिया के पास फैशन,ग्लैमर, सोसाइटीञ सबके लिए अलग-अलग संवाददाता थे,पर एक भी फुल टाइम संवाददाता या चैनल नहीं था, गरीबी और किसानों की आत्महत्या पर लिखने के लिए।ञ्इसीलिए यह 'किरषि प्रधान देस' किसान आत्महत्या पर चर्चा नहीं करता। उनके लिए तो हर मौत एक संख्या है। मीडिया के लिए एक दृश्य है, जो भी बस कुछेक पलों के लिए, फिर दृश्य परिवर्तन क्योंकि एक ही दृश्य में किसी को भी दिलचस्पी नहीं रहती।'

किसानों की आत्महत्या जैसे मुद्दों को संसद में रखना चाहिए। सरकार से जवाब मांगना चाहिए ,इसके कारणों को जानने का प्रयास करना चाहिए। सांसद और विधायक नेताओं को उन परिवारों से मिलकर आत्महत्या के तह तक जाना चाहिए तथा इसके समाधान के बारे में सोचना चाहिए।लेकिन सभी अपने-अपने सियासी जंग में लगे रहते हैं। अपने स्वार्थ सिद्धि के अलावा किसी के पास इन मुद्दों पर बहस करने का समय नहीं होता।

मधु जी कहती हैं-'जहां रुपयों से सरकार को खरीद लिया जाता हो, विधायक और सांसद जहां बिकाऊ हों, उनसे आप क्या उम्मीद करेंगे कि वे इस पर चर्चा करेंगे कि कुछ हजार की फसल बर्बाद होने पर किसान आत्महत्या क्यों कर लेते हैं? सच्चाई तो यह है कि यह आत्महत्या नहीं राज्य द्वारा की गई हत्या है। आज सरकार, व्यवस्था, बहुराष्ट्रीय कंपनियां, बैंक, न्यायालय, सूदखोर, साहूकार सभी शामिल हैं किसान को उजाड़ने में। क्या उन्हें यह समझ में आएगी कि सांस-सांस खींचकर जीवन की डोर आगे खींचने वाला किसान आखिर, आखिर में हथियार क्यों डाल देता है?'

इस उपन्यास में अविनाश की मां की मृत्यु भौतिक मृत्यु है वह जीवित है अविनाश की चेतना में । वह अपराधबोध से ग्रसित है। अविनाश अपराधबोध और ग्लानि के घोर अंधेरे से बाहर निकलना चाहता है, यातना से ऊपर उठना चाहता है।

अपने मामा से कहता है-'हर पल बढ़ती यातना के ऊपर उठने का बस एक ही हल है मामू और वह है यह कि खुद को सार्थक काम में झोंक डालूं।'

अविनाश किसानों की समस्याओं का समाधान करके उनकी तकदीर बदलना चाहता है। वह हर संभव प्रयास करना चाहता है,जिससे किसानों की आत्महत्याओं में कमी आएं। इसी क्रम में वह किसानों के साथ मिलकर या कहें सामूहिक श्रम से सड़क निर्माण और तालाब निर्माण का कार्य पूर्ण करता है जिससे कई किसानों की कुछ समस्याओं का समाधान हो जाता है ।उसे बोध होता है कि असली खुशी लोगों से जुड़कर ही होती है। अविनाश नहर खुदाई के लिए पारतूल जाता है जहां बबनगिरी शेतकरी(किसान)की आत्महत्या का समाचार सुनता है ।तीन परिवारों के उस घर में यह दूसरी आत्महत्या है ।साल भर पूर्व बबनगिरी के मुलगे(बेटा) ने भी मौत को गले लगा लिया था ।बबनगिरी की आत्महत्या पर पत्नी फुलवा कहती है- 'दो-दो बेटियों की शादी में जितनी जमीन थी कर्जे के चलते हाथ से निकल गई थी ।महीने के पांच टका ब्याज पर यानी साठ प्रतिशत ब्याज दर पर वह कुछ धंधा करना चाहता था। बाप की हड्डी तोड़ मेहनत के बावजूद हाय-हाय करता देख मजदूरी और खेती पर से उसका विश्वास उठ गया था। बैंक ने कर्जा देने से मना कर दिया इसलिए किसी निजी साहूकार से लिया था कर्जा। अब कर्जा था, मजदूरी थी, गिरता स्वास्थ्य था,पहाड़ों की तरह भारी ब्याज था। देनदार कोंच-कोंच कर जीना हराम कर दिए थे,वह रोटी कम खाता गाली ज्यादा खाता। एक दिन महाजन के बेटे ने सरेआम पीट दिया। वह अपमान बर्दाश्त न कर सका। हम लोगों की अनुपस्थिति में वह आत्महत्या कर लिया। इसके पिता की बस एक ही धुन थी कि मरने से पहले वह बेटे का कर्जा चुका देंगे। इतना भारी-भरकम कर्जा उतारना उनके बस का नहीं था इसीलिए उन्होंने भी आत्महत्या कर ली।'

उपन्यास का पात्र 'बाबा साहब'जी कहते हैं-

'भारत का किसान एक ऊबड़-खाबड़ खुरदुरा पत्थर बनकर रह गया है जिसकी जिंदगी में न राग है न

रंग, न गीत न संगीत, न दीवाली ,न न्यू इन्यर।है तो सिर्फ तीन चीज- कर्ज ,कर्ज और कर्ज।'

सरकार को चाहिए कि किसानों का हर साल कुछ प्रतिशत कर्ज माफ कर दें ,जिससे किसान आत्महत्या करने के लिए मजबूर न हो।सूखा, बाढ़ आदि के लिए मुआवजा भी दिया जाए।

गोविंद जी कहते है-'सोचने की बात यह भी है कि सिर्फ किसान ही नहीं मर रहा है ,हम सब के भीतर का किसान भी मर रहा है। भीतर का वह किसान जो मानता था कि जो जैसा बोएगा वैसा ही काटेगा।'

अविनाश किसानों की आत्महत्या के कारणों को जानने के बाद किसानों के लिए कुछ करना चाहता है जिससे किसान स्वावलंबी बन सके। समस्याओं से डटकर सामना कर सके। न कि आत्महत्या करके अपना जीवन समाप्त कर लें। इसी क्रम में अविनाश किसान उच्च प्रशिक्षण केंद्र, किसान बचाओ क्लब, फार्मर्स बेसिक ट्रेनिंग सेंटर, कृषि उपज मंडियां ,उमंग क्लब और उड़ान संस्था की स्थापना करने की योजना के बारे में सोचता है।

मधु कांकरिया ने इस उपन्यास के जरिए भविष्य में आने वाले खतरों की तरफ इशारा किया है, लोगों को चेताया है कि यदि अभी हम किसानों के कष्टों, उनके दुःखों को अनदेखा और अनसुना करेंगे तो वह दिन दूर नहीं जब पूरी सभ्यता विनाश के अंतिम छोर पर पहुंचकर हाहाकार करेगी और उसे बचाने, उनका संरक्षण करने वाला कोई ना होगा। 'यह संकट सिर्फ किसानों पर ही नहीं वरन् पूरी सभ्यता पर है। यह मरती हुई सभ्यता का आपातकाल है। देखना आज किसान गिर रहा है कल पूरा देश गिरेगा और इसका एक ही हल है कि धरती केवल किसानों की होनी चाहिए और खेती संबंधित सारे निणर्य ने किसानों के हाथों में।'

निष्कर्षतः मधु जी कहती हैं कि किसानों की आत्महत्या रोकने का कार्य सरकार कई किसान कल्याण एवं कृषि विकास की योजनाओं द्वारा कर सकती है। साथ ही सरकार को फसल बीमा एवं कई अन्य प्रकार की सहायता जैसे सहकारी बैंकों से कम ब्याज दर पर ऋण की उपलब्धता कराना एवं उच्च गुणवत्ता वाले बीज, उच्च स्तर के खाद, कीटनाशक, उत्तम कृषि यंत्र प्रदान करना एवं भूमिहीन किसानों को भूमि उपलब्ध कराना आदि उपायों के द्वारा सरकार किसानों की आत्महत्या को रोकने में कामयाब हो सकती है।फसल बीमा, फसलों का उच्च समर्थन मूल्य एवं आसान ऋण की उपलब्धता सरकार को सुनिश्चित करनी होगी तभी किसानों की स्थिति सुधरेगी और उन्हें आत्महत्या करने से रोका जा सकेगा।मधु जी कहती है-ग्रामीण इलाकों में बुनियादी ढांचेः जैसे- सड़क, बिजली और सिंचाई सुविधाएं और कृषि बाजारों की ओर ध्यान देने की जरूरत है।पानी की समस्या का समाधान ड्रिप सिंचाई तथा वर्षा जल संचयन का उपयोग करके कर सकते हैं। मृदा अपरदन रोकने के लिए किसान कृषि भूमि का उपयोग प्रबंधित और सुसंगत तरीके से कर सकते हैं।

संदर्भ सूची-

१)कांकरिया,मधु -ढलती सांझ का सूरज, राजकमलप्रकाशन ,नई दिल्ली,२०२२, पृष्ठसंख्या-९

२)उपरोक्त, पृष्ठसंख्या -७१

३)उपरोक्त ,पृष्ठसंख्या-८६

४)उपरोक्त ,पृष्ठसंख्या-१३३

५) उपरोक्त, पृष्ठ संख्या -१३४

६)उपरोक्त, पृष्ठ संख्या -१३८

७)उपरोक्त,पृष्ठ संख्या-१७७

८) INDIAN FARMER, ceeÛe& 26,2023(https://indianfarmer.org/problems-of-indian-farmers)

9)ke=â<ekeâpeiele, ceeÛe& 31 2022(https://www.krishakjagat.org/editorial/right-price-is-the-solution-to-the-problems-of-farmers/)

10)[eGve št DeLe&, petve 4, 2023(https://www.downtoearth.org.in/hindistory/agriculture/farmers/SOE-in-Figures-2023-Everyday-30-farmers-and-agricultural-laborers-are-committing-suicide-89732)

महानगरीय जीवन का यथार्थ और १७ रानाडे रोड

मनीष कुमार शुक्ल

राजेश कुमार गर्ग

शोधार्थी, हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
मो. ८८४००६१८९०
ईमेल-maneeshau90@gmail.com

भूमंडलीकरण के आरम्भिक चरण से ही नगर ने ग्राम के स्वतंत्र अस्तित्व पर कुठाराघात कर अपने में समाहित करने की प्रक्रिया तेज कर दी जिसने आज प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष तौर पर पूरी ग्रामीण संस्कृति, खानपान, रहन-सहन और कला क्षेत्र को अपने प्रभाव में ले लिया है। 'महानगर' शब्द की निर्मिति 'महा' और 'नगर' शब्दों के योग से हुई है। संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर के अनुसार - ' महा का अर्थ है बड़ा और नगर का अर्थ है - गाँव अथवा कस्बे से बड़ी वह मानवीय बस्ती जिसमें अनेक पेशों (रोजगार) से जुड़े विभिन्न जातियों के लोग रहते है ' (१)

सामान्यतः भारतवर्ष में अधिक जनसंख्या की दृष्टि से नगरों को महानगर शब्द संज्ञा से विभूषित करने की परम्परा रही है, लेकिन मानक जन सांख्यिकीय दृष्टिकोण से देखने पर पाते हैं कि वर्तमान में दस लाख या इससे अधिक के जनसंख्या वाले नगरों को ही महानगर की श्रेणी में रखा जा सकता है। देश के कोलकता, दिल्ली, चेन्नई, मुंबई जैसे शहरों के साथ-साथ राजस्थान तथा मध्यप्रदेश के जोधपुर तथा भोपाल जैसे शहर भी इस श्रेणी में आते हैं।

छोटे शहर और कस्बे जितनी तीव्रता से महानगरों में परिवर्तित हुए, मानव परिवेश भी उतनी ही तेजी से बदला। महानगरीय तंतुओं ने मानव लोक की सहज भावधारा को अवरुद्ध कर उसे कृतिमता का पर्याय बना दिया। यह यंत्र होने की विवशता ही मानव जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप है। भौतिक सुखों की चकाचौंध ने उसे सच्चाई की रोशनी से कोसों दूर ला खड़ा किया है। महानगरीय परिवेश की बढ़ती आबादी, उपभोक्तावादी संस्कृति के बीच रहते हुए मनुष्यों को प्रतिदिन अपने निजी जीवन में अजनबीपन, घोर अमानवीयता, पहचान खोने का संकट, जीवन की प्रमुख आवश्यकताओं के लिए जटिल संघर्ष, आजीविका के कारण उपेक्षित जीवन जीने की विवशता, उपयोगितावाद एवं स्वार्थवादिता पर आधारित पारस्परिक संबंध, आत्मकेंद्रीयता, संबंधों का व्यवसायीकरण इत्यादि समस्याओं एवं परिस्थितियों का सामना करना पड़ रहा है। इस तरह की समस्याओं से उनके जीवन में द्वंद, घुटन, संत्रास के साथ अनवरत उथल-पुथल मची हुई है।

लेखक कभी भी अपने समय के सत्य से विलग नहीं हो सकता। अनेक लेखकों ने अपनी अनुभवों की सघनता और जीवन दृष्टि के आधार पर महानगरीय जीवन के यथार्थ को अपनी रचनाओं का वर्ण्य विषय बनाया है। उन्होंने अपनी कृतियों में महानगरीय जीवन की दूषित परतों जैसे- भ्रष्टाचार, प्रदूषण, मंहगाई, बेरोजगारी, अपराध और अपराध की बढ़ती प्रवृत्ति के साथ साथ नैतिक पतन की ओर भी ध्यान खींचा है।

आज के समय में साहित्य की लगभग सभी विधाओं में महानगरीय जीवन के यथार्थ के दृश्य अत्यंत

सूक्ष्मता से चित्रित हुए हैं तथा अनेक कृतियाँ इस यथार्थ दर्शन की साक्षी हैं। जिनमें रवींद्र कालिया की कृति १७ रानडे रोड प्रमुख है। यह कृति हमें मुंबई महानगर की उस पुरानी दुनिया के विकट अनुभव क्षेत्रों में ले जाती है, जो आंशिक रूप से आज विद्यमान नही है और आंशिक रूप से पहले से भी कहीं अधिक बीहड़ रूप ले चुकी है। हम इस उपन्यास के माध्यम से सातवें दशक के मुंबई महानगर से प्रत्यक्ष होते हैं। यह उन दिनों का उपन्यास है - 'जब सोना सौ रुपये तोला था और मुंबई बंबई के नाम से जाना जाता था कुछ लोग इसे बांबे भी कहते थे। टैक्सियों का न्यूनतम भाड़ा साठ पैसे हुआ करता था। ' (२)

सातवें दशक की मुंबई को दृश्याकार रूप में गढ़ने वाला यह उपन्यास दिलचस्प के साथ- साथ पठनीय तो है ही; इससे भी महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि संवेदनशील पाठक के मन पर यह अपना बहुत गहरा प्रभाव अंकित करता है। गंदली दिशाओं की ओर उमड़ती सैलाबी धारा के विरुद्ध नाव खेने की ऊर्जा प्रदान करता है। इस उपन्यास का नायक ओबी (संपूरन ओबेराय) एक ऐसा अद्भुत पात्र है जो अपनी शर्तों में जिंदगी जीने में माहिर है। उसके हाथ में भौतिक संसाधन अधिक नहीं हैं पर वह शाही ढंग से जीवन यापन करता है। उसकी जिंदगी में उतारों चढ़ावों की भरमार है। रात की छिटकी चांदनी और कांच के शीशों के उस पार समुद्र में उठते ज्वार भाटे उसे अवसाद में नहीं डालते बल्कि वह निभृत्य रहकर उनसे आनंद प्राप्त करता है। रविंद्र कालिया की कलम से गढ़ा गया यह पात्र जीवन के प्रति लापरवाह होते हुए गंभीरता से भरा हुआ। हताशापूर्ण स्थितियों में भी आशा से लबालब - 'वाहे गुरु दा खालसा, वाहे गुरु दी फतेह! अपना काम ईमान दारी से करते जाओ बस। एक न एक दिन कामयाबी आपके कदम चूमेगी। न भी चूमे तो साला क्या हो जायेगा। होशियार आदमी कभी भूखों नही मरता। मैं दुनिया में ही नही बंबई भी खाली हाथ आया था। ' (३)

जीवन संघषी से पंजे लड़ाते संपूरन जैसे एकाध उर्जस्वित् नायक के इतर बल्कि साथ ही ; क्योकि की आशा को छोड़कर उसमें वह सब जो महानगरीय जीवन के यथार्थ के भयावह रूप की पुष्टि करता है , महानगरीय जीवन के यथार्थ पर दृष्टि डालते हुए हम विषमता की एक गहरी खाई से प्रत्यक्ष होते हैं। उच्च पदों पर योग्यता की जगह संबंधों को वरीयता दी जाती है। ये अभिशाप ही है कि अल्पज्ञानी, योग्य लोगों का नेतृत्व कर रहे हैं। इसकी बानगी उपन्यास के प्रारंभ में ही देखने को मिलती है- ' नीलिमा अधीर एक चिरकुमारी थी। कुछ लोगों की राय थी कि वह एक राष्ट्रीय पार्टी के अध्यक्ष की चहेती थी और वह उनकी सिफारिश से ही इस पद तक पहुंची थी जबकि उसे न तो संगीत की जानकारी थी और न श्रव्य माध्यम का कोई अनुभव'। (४)

पंक्तिओं में स्पष्ट दर्शित होता है कि किस तरह योग्यता की जगह संबंधों को वरीयता देने की घृणित परम्परा महानगरों में भी पैठी हुई है, जो आज भी अपने पूर्ण रूप में विद्यमान है। इसके साथ साथ प्रदर्शन प्रियता भी महानगरीय जीवन का एक प्रधान अंग बन चुका है। अभाव होने के बावजूद जिसे देखो वही जरूरत से ज्यादा प्रदर्शन पर बल देता है और फिजूलखर्ची की सारी रेखाएँ पार कर जाता है। धनाभाव होते हुए भी लोग पार्टी के लिए लोन लेने में नही कतराते। शराब, भोजन वस्त्रों में फिजूलखर्ची तो आम बात है। 'तुम्हारे लिए एक दर्जन बनियान, एक दर्जन अंडरवियर, एक दर्जन शेविंग सेट, ये जूते एक दर्जन मोजे, ये शर्टें, ये पतलून के कपड़े वगैरह-वगैरह'। (५)

महानगर की बाजारी त्रासदी मनुष्य को तो कब का जद में ले चुकी है, कलाएँ भी उससे अछूती न रहीं। बाजारी संस्कृति ने कलाओं के क्षेत्र में भी धावा बोल दिया है या ये कहें कि उस क्षेत्र में कब्जा कर लिया है तो अतिशयोक्ति न होगी। बाजार और विज्ञापनी तीरों से कलाओं का प्रत्येक अंग भीष्म की तरह बिंध चुका है। रविंद्र जी इस बदलाव को चित्रित करते हैं- 'सुदर्शन ने अखबार खोला, वह ऐसे खुला जैसे स्टार्च लगा कपड़ा खुलता है। वह शहर की सांस्कृतिक गतिविधियों की जानकारी हासिल करने के लिए स्थानीय विज्ञापन पढ़ने लगा। यह जानकर सुखद आश्चर्य हुआ कि एक साथ कई नाटकों के विज्ञापन थे। हिंदी और ज्यादातर मराठी नाटकों के। नाटकों के नाम काफी बाजारू लग रहे थे। महसूस हुआ की बाजार ने नाटकों पर भी हमला बोल दिया है।' (६)

बाजार ने कला के मूल तत्वों के अस्तित्व पर ही संकट खड़ा कर दिया है। वह अपना स्वरूप त्यागकर

बाजार के साथ कदमताल करते नजर आते हैं। प्रदर्शन प्रियता या बाजारवादी होने के साथ साथ भौतिक समृद्धि की अंधी दौड़ में खप जाना ही जैसे महानगरों की नियति हो गई है। असफलता की तो छोडि़ये सफलता भी अपने साथ एकाकीपन और घुटन का अभिशाप लेकर आती है। कैरियर की ऊँचाई में पहुँचते-पहुँचते लोग जीवन के सहज स्वरों से कोसों दूर हो चुके होते हैं। नैतिकता की खोज में निकले लोग कब अनैतिकता को ही नैतिकता मान बैठते, पता ही नही चलता। आधुनिकता की आँड़ में नैतिकता का क्षरण महानगरों की प्रमुख समस्या है- 'कई बार ऐसा होता कि काकाजी दालान से उठकर आते तो संपूरन और सुप्रिया को नंग धडङ्ग देखकर वापस लौट जाते। सुदर्शन के लिए ये कोई नई बात न थी। वह सुबह उठता तो दोनों को निर्वस्त्र देखकर चादर ओढ़ा देता। वह दफ्तर से इतना थककर लौटता कि दो पैग लगाकर ऐसी गहरी नींद में सोता कि पता ही नही चलता बगल के बिस्तर में क्या हो रहा है'। (७)

यहाँ अतिरिक्त खुलापन शहरी जीवन के भयावह यथार्थ की गवाही देता है। ऐसे ही अनेक प्रसंग इस कृति में उभरकर सामने आते हैं जहाँ मनुष्यता पशुवत सोपानो में है। रोजगार और बड़े स्वप्नो को लेकर सुदूर क्षेत्रों से आए युवा महानगरीय चकाचौंध में दिग्भ्रमित हो घुटन और तन्हाई की पर्याय उसी भीड़ का हिस्सा हो जाते हैं। जीवन एक ही पथ पर चलता है जिसमे ऊब, खीझ और संत्रास के शिलाखंड लगे है। इसी का परिणाम है कि धीरे धीरे मानसिक विकृतियाँ वहाँ के जीवन की सहचरी के रूप में परिणत हो जाती हैं जो हमेशा व्यक्ति के साथ चलती हैं और मृत्युपर्यंत ही उससे विलग होती हैं। संबंधों के प्रति लापरवाही भी उपन्यास में खुलकर सामने आती है। वह पुरुष पात्र हो या स्त्री पात्र, दोनों इस तरह के आचरणों में लीन हैं और दोनों की एक दूसरे के प्रति व्यक्तिगत ईमानदारी शून्य नज़र आती है। यह भी सच है कि कुछ पात्र इससे कोसों दूर हैं और कुछ आकंठ इसमें डूबे हैं। उपन्यास के पात्र 'चन्नी' के बारे में कालिया जी लिखते हैं - ' वह नौ महीने शिप में रहता था। उसकी पत्नी रेखा को संपूरन ने पिछले दिनों एक युवक के साथ जुहू पर स्विमिंग कॉस्ट्यूम में देखा था। रेखा ने भी उसे देख लिया था और अगले रोज लंच पर बुलाया था। संपूरन लंच के लिए गया तो उसने खाते-खाते अचानक संपूरन का हाथ अपने दोनों हाथों में थामकर उससे कसम ली थी कि वह चन्नी से इसका जिक्र नही करेगा। चन्नी भी संपूरन को अपनी प्रेमिकाओं के बीसिओं किस्से बता चुका था। दुनिया में हर जगह उसकी लड़कियाँ फैली हुई थीं '। (८)

यह प्रवृत्ति दोनों ओर अपना डेरा डाले हुए है। इस प्रवृत्ति के साथ नशाखोरी भी महानगरों का कटु यथार्थ बन चुकी है । यह भी सच है कि महानगरों की परिधि से निकलकर यह समस्त संसार में फैल चुकी है। पूरा विश्व इस विषाक्त दलदल में फँसा हुआ है। बड़ी बड़ी महफि़लों में खुलकर शराबखोरी होती है। सोलह वर्ष के नवयुवकों से लेकर अस्सी वर्ष तक के वृद्धों को यह जकड़े हुए है और उन्हें प्रतिक्षण नष्ट कर रही है। उर्जस्वित नायक संपूरन भी इसका बुरी तरह शिकार है। कुछ भी घटा कि उसने पार्टी पेश कर दी। भोजन की तरह ही शराब महानगरीय जीवन मे दैनिकी का हिस्सा है। जिस प्रकार भोजन के बिना व्यक्ति गतिशील नही रह सकता उसी तरह शराब के बिना भी । मेजबाँ द्वारा मेहमानों को खुश करने का यह सबसे आसान उपाय है जिसे उपन्यास में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है - 'भाभीजान, अगर आप बुरा न माने तो हम लोग तब तक अपना हलक गीला कर लें। मेरे पास दुनिया की बेहतरीन स्काच है मगर जायसवाल साहब मदिरा के कैसे व्यापारी हैं कि उसका रस भी नही लेते। उम्मीद है आप इजाजत दे देंगी। हम तभी पैक तैयार करेंगे और हाँ, मेरी बीबी भी एकाध घूँट भर लेती है आप उसे मुआफ कर देंगी '। (९)

शब्दों के माध्यम से अपने शराब प्रेम को दूसरों पर डालने की कला यहाँ सीखी जा सकती है। इसी ने पूरी की पूरी पीढ़ियों को तहस-नहस कर दिया। महानगरीय संस्कृति में शराब प्रेम को भद्रता का एक पैमाना घोषित कर दिया गया है। अगर आपको बड़े लोगों को खुश करना है तो उन्हें आमंत्रित कर बढि़या से बढि़या शराब उनके सामने पेश कर दें। यह कटु यथार्थ है कि शराब जीवन में रच बस चुकी है।

महानगरों का जीवन जितना चमक दमक वाला होता है, मृत्यु उतनी ही ज्यादा एकाकी। चकाचौंध के पीछे एकाकीपन के अणु कार्यरत रहते हैं जो समय समय पर उभरकर एक समय बाद जीवन का हिस्सा हो जाते

हैं। एकाकीपन और अवसाद महानगर की सबसे बड़ी त्रासदी है। वहाँ क्षणवाद की धारणा कार्यरत रहती है। प्रतिपल संतृस्त मनःस्थिति में रहने वाले लोग टूट रहे हैं और क्षण क्षण मे जीना अंगीकार कर रहे हैं । महानगरों में अतीत किसी की मदद नहीं करता और भविष्य अनिश्चितता के गर्त में है इससे वहाँ के जीवन में यह धारणा हावी होती जाती है कि जो मिला उसका भोग करना चाहिए। यही उतवलापन अवसाद और घुटन का वरदान अपने साथ लाता है। जीवन जितना ज्यादा रंगारंग और जागृत नजर आता है मृत्यु उतनी ही ज्यादा वीरान और एकाकी। सम्पूरन का जिक्र करते हुए कालिया जी लिखते हैं - ' इस समय सबसे सुरक्षित स्थान दादर श्मशान घाट ही लगा। सींगदाना चबाते हुए वह खरामा खरामा श्मशान घाट में घुस गया। उसे ताज्जुब हो रहा था, बंबई जितना बड़ा शहर है, उसकी शवयात्राएँ उतनी ही वीरान किस्म की होती थी। बड़े-बड़े लोगों की शवयात्रा में भी दस बीस से ज्यादा लोग न होते थे। उसने देखा, उसके आगे-आगे एक नौजवान दोनों बाहों में सफेद कपड़े पर लिपटा किसी शिशु का शव लिए जा रहा था। वह अकेला ही जा रहा था, इतनी बड़ी बंबई मे उसे एक भी साथी न मिला'। (१०) रोशनी के पीछे छिपा अंधेरा इस जीवन की कृतिमिता की कलई खोलता है।

योग्य होने पर भी व्यवस्था के शिकार होकर निचले दर्जे में खटना बड़ा दुर्भाग्य है। संपूरन जब फ्लैट में पेंट करवा रहा होता है तो अचानक पहुंचकर वह पाता है कि मिस्त्री पीकर पड़ा हुआ है और एक मज़दूर मिस्त्री का कार्य कुशलता पूर्वक किये जा रहा है। तब संपूरन उसे अतिरिक्त राशि देकर उसे अपने साथ कार्य करने को राजी कर लेता है। ऐसी कला को पहचानने वाले लोग वहाँ बहुत कम हैं। संपूरन् जैसा कोई ही इस चीज को रेखांकित कर सकता है। तभी तो संपूरन् शुक्लाजी को बड़े चाव से बताता है - ' आप तो जानते ही हैं, यह मंगर की बीबी है पेशे से नर्स। इनका प्रेम विवाह हुआ था। किसी दिन इन लोगों की प्रेम कहानी सुनेंगें। फिलहाल इतना कि यह सारा फ्लैट मंगर ने ही पेंट किया है। इस नादान आदमी को ये भी नही मालूम कि इसके पास कितना बड़ा हुनर है। इससे वे लोग मज़दूर का कार्य ले रहे थे और मिस्त्री नोटांक पीकर सोता था '। (११)

इससे बड़ी विडंबना क्या होगी कि योग्यता सड़कों में तमाशा करती है और अयोग्य व्यक्ति उस तमाशे के सूत्रधार है। रवीन्द्र कालिया ने इन बिडंबनाओं को उपन्यास में चित्रित किया है और महानगरीय जीवन के यथार्थ के रेशों को बड़ी ही बारीकी से एक-एक करके उधेड़ा है और पाठकों के सम्मुख प्रत्यक्ष कर दिया है।

यद्यपि भारत की जनसंख्या का अधिकतर भाग ग्रामों में निवास करता है लेकिन नगरीकरण और आद्योगिकी करण के फलस्वरूप कस्बे, नगर में और नगर, महानगर में बदलते जा रहे हैं। एक ओर जहाँ नगरों का उन्मुक्त वातावरण अनुकूल अवसर प्रदान करता है वहीं दूसरी ओर विकट समस्याओं को जन्म भी देता है। लेखक अपनी रचना के माध्यम से हमे उन कृत्रिम मूल्यों से बचने को सजग करता है जो सहज स्वरों के लिए अवरोध है। इस उपन्यास में महानगरों में भौतिक समृद्धि की अंधी दौड़ के साथ साथ प्रदर्शन प्रियता, नशाखोरी, निराशा, अवसाद, घुटन, नैतिक पतन जैसी महानगरीय प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला गया है।

संदर्भ ग्रंथ -

(१) रामचंद्र वर्मा (संपादक) ;संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, २०१३, पृष्ठ - ५१६

(२) १७ रानाडे रोड, रविंद्र कालिया,भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृष्ठ - १९

(३) वहीं, पृष्ठ - २१०

(४) वहीं, पृष्ठ - ८

(५) वहीं, पृष्ठ - २८

(६) वहीं, पृष्ठ - ५३

(७) वहीं, पृष्ठ - ६१

(८) वहीं, पृष्ठ - ८२

(९) वहीं, पृष्ठ - २८०

(१०) वहीं पृष्ठ - ११३

(११) वहीं पृष्ठ - १४५

बेहटा कलां उपन्यास का कथा भूगोल

अमन वर्मा(दीप अमन)

शोधार्थी, हिन्दी विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय

ईमेल-[illegible]

संपर्क-९३६९४२२४४६

' बेहटा कलां' इंदु सिंह जी की पहली गद्यात्मक कृति है जिसकी परिधि में उत्तर प्रदेश के रायबरेली जिले का एक गाँव 'बेहटा कलां' है तो केंद्र में वहाँ के एक सामंती परिवार की लड़की अन्नपूर्णा उर्फ अन्नु। किसी भी रचना की रोचकता उसकी कथावस्तु पर निर्भर होती है। इस दृष्टिकोण से बेहटा कलां एक समृद्ध उपन्यास है। एक स्त्री किसी पुरुषसत्तात्मक समाज से किस प्रकार संघर्ष करती है, उसका एक सजीव चित्रण इस उपन्यास में किया गया है। हालांकि इस उपन्यास में अन्नु के जन्म से लेकर उसके नाती-पोते के साथ के जीवन को चित्रित करने की वजह से इसकी कथा यात्रा लगभग एक व्यक्ति की सामान्य वय तक पहुँच जाती है। अपने समाज व परिवार की पुरूष सत्तात्मक व्यवस्था से संघर्ष करते-करते जन्म से लेकर विवाह से पूर्व और विवाह के उपरांत एक स्त्री का जीवन, विशेष रूप से ग्रामीण परिवेश में कितना संघर्षपूर्ण और एकाकी हो जाता है, उपन्यास का मुख्य कथ्य है। उपन्यास की नायिका अन्नु है जो बचपन में बड़े ही नाजों से पली- बढ़ी, अपनी ससुराल में सास-ससुर,पति और बच्चों से भरे पूरे परिवार के बीच भी अकेलेपन का शिकार हो जाती है और अंत में अपनी स्मृति खो देती है। अन्नु का चरित्र एक आदर्श चरित्र है जो हमेशा दूसरों के लिए अपना जीवन जीती है। दूसरों के लिए हमेशा समर्पित भाव से खड़ी रहने वाली एक स्त्री जो आगे निकलने की दौड़ में भागते पुरुषों के बीच आत्माहुति दे देती है, ऐसी स्त्री की दास्तान है 'बेहटा कलां'।

बेहटा कलां को विधाओं का अजायबघर कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस उपन्यास में हिन्दी साहित्य की विभिन्न गद्य विधाओं से परिचय प्राप्त होता है। अन्नु के जीवन को चित्रित करते हुए उपन्यास जीवनीपरक,विभिन्न संस्मरणों को देखते हुए संस्मरणात्मक और रेखाचित्र जैसी विधाओं को स्पर्श करता हुआ प्रतीत होता है। यह एक स्त्री के सामान्य पारिवारिक जीवन में हो रहे बदलावों का दस्तावेज है। इसके विषय में 'लमही' संपादक विजय राय जी लिखते हैं-' 'बेहटा कलां' दरअसल स्त्री विमर्श के तल्ख नुक्तों की एक ऐसी जबर्दस्त गाथा है जिसमें इंदु सिंह ने अन्नपूर्णा को केंद्र में रखकर चार पीढ़ियों का कच्चा- चिट्ठा बखूबी प्रस्तुत किया है।' -१ उपन्यास का प्रारंभ एक ऐसे दृश्य से होता है जो किसी ग्रामीण पृष्ठभूमि को चित्रित कर रहा हो। वृहत चारदीवारी, नीम का घना पेड़, गौरैया, मैना,गिलहरी और पहाड़ी कौवे के साथ पाठक का भी प्रवेश उपन्यास में होता है। चिड़ियों की बातों का पत्तों के बीच से फूटना और पत्तियों का शरमा जाना, कुछ ऐसी मानवीय क्रियाएं है जो प्रारम्भ से ही पाठकों को जोड़कर रखती हैं।

इसी प्रकार बेहटा कलां की एक शाम का चित्र खींचते हुए शब्द दृश्यात्मक हो उठते हैं। ऐसा प्रतीत होता है लेखिका का ग्रामीण पृष्ठभूमि से कोई नजदीकी रिश्ता हो। यहाँ इंदु जी एक सफल रेखाचित्रकार के रूप में दिखाई देती हैं जब वे लिखती हैं-'शाम होते ही चारपाइयाँ छप्पर के नीचे से नीम के पेड़ के पास आ जातीं। नीम के

पेड़ के चारों ओर, गोल घेरे में चिकनी मिट्टी की चरही बनी हुई थी। दिन भर चरने के लिए गए हुए मवेशी भी शाम होते ही उस चरही पर लाकर बाँध दिए जाते थे। एक तरफ पंक्षियों का कलरव गूँजता, तो दूसरी ओर घर-परिवार के लोग चारपाइयों पर जमावड़ा लगा लेते थे।' -२

उपन्यास को एक सामंती परिवेश में रचा गया है। नायिका अन्नपूर्णा के पिताजी चंद्रवीर सिंह और ससुर रघुवीर सिंह का चरित्र इसकी गवाही देता है, जहाँ लोग अपने कद के हिसाब से उनके सामने बैठे हुए दिखाई देते हैं। अन्नपूर्णा उर्फ अन्नु का विवाह चौदह वर्ष की आयु में हो जाता है जो कहीं न कहीं इस बात को भी रेखांकित करता है कि इस कथा का प्रारंभ एक लंबे अरसे पूर्व होता है जब बाल विवाह प्रचलन में था क्योंकि यहाँ अन्नू का बालविवाह दिखाया गया है। विवाह के पश्चात किसी सामंती परिवार में स्त्री की स्थिति क्या होती है इसे भी यह उपन्यास बखूबी चित्रित करता है। कमोवेश यह स्थिति सिर्फ अन्नपूर्णा की ही नहीं अपितु अधिकांश सामंती परिवार की बहू की है जो किसी ग्रामीण क्षेत्र से सम्बंध रखती है- 'ससुराल में घर छोटा और परिवार काफी बड़ा था। अन्नु को हर वक्त लंबा घूँघट भी रखना पड़ता था। ससुराल में कदम रखते ही अन्नू का बचपन बिखर चुका था। हँसो तो ऐसे कि आवाज बाहर न आये और बोलो तो ऐसे कि बस वही सुन पाए जिससे बात की जा रही हो। अन्नू की जिंदगी घूँघट के अंदर ही घुटने लगी थी। उसके जीवन में अब न गीत था न संगीत। सिर्फ चूल्हा, रोटी, बर्तन, कपड़े और घर के काम ही अब अन्नु के साथी थे।...रोज सुबह तड़के सबके उठने से पहले उठना और देर रात सबके बिस्तर पर जाने के बाद ही खुद के बिस्तर तक पहुँचना; यही अन्नु की दैनिक दिनचर्या बन चुकी थी।' -३

जीवन सुख दुख का संगम है। इसे लेखिका ने बखूबी समझा है। सामान्यतः प्रत्येक इंसान अपने आपको परिस्थितियों के अनुसार ढाल लेता है। अन्नु के माध्यम से लेखिका ने इस मनोविज्ञान को अभिव्यक्ति दी है। ससुराल जाने के बाद अन्नु चुप सी रहने लगी थी। यह स्थिति उसके साथ तब भी है जब वह अपने मायके जाती है। विवाह के पूर्व चुलबुली स्वभाव की अन्नु को उसके मायके वाले जब नये रूप में देखते हैं तो उन्हें आश्चर्य होता है। हो भी क्यों न, क्योंकि वे सब तो अन्नु के चुलबुले रूप को देखने के आदी हो गए थे। उन्हें अन्नु का चुप रहना कष्टकर प्रतीत होता। जहाँ अन्नु के घर आने पर मायकेवाले उत्साहित रहते कि बिटिया आई है, वहीं अन्नु गुमसुम बनी रहती। इंदु जी लिखती हैं- 'चुप्पी अब उसकी आदत बन चुकी थी। अन्नू अब किसी भी बात पर बस मुस्कुरा देती थी, उसकी अंदर की हँसी पर जैसे सदा के लिए ताला पड़ चुका था। पिक्चर और गानों की शौकीन अन्नू यह सब भूल चुकी थी। ससुराल में रेडियो तक में गाने सुनने पर उसे डांट पड़ जाती थी, फिर भी कभी-कभी रसोई में छुपकर वह धीमी आवाज में विविध भारती लगा लेती थी लेकिन यह खबर भी छुप न पाई और अंततः अन्नू ने गाना सुनना भी छोड़ दिया।' -४ वस्तुतः अन्नु का यह एकाकीपन ही इस उपन्यास की कथाभूमि तैयार कर रहा था, जिसे लेखिका की संवेदनाभूमि में पहुँचकर शब्द प्राप्त हुए।

समय आने पर अन्नु ने दो पुत्र राघव और माधव तथा एक पुत्री मंगला सहित तीन बच्चों को जन्म दिया। चूँकि परिवार की पुरुषवादी सोंच मंगला को भी पढ़ने नहीं देना चाहती थी। उनका मानना था कि विवाह के बाद लड़की(मंगला) को तो घर के कामकाज ही करने हैं। अतएव उसे शिक्षा की बहुत जरूरत नहीं। उन्हें मंगला की पढ़ाई मात्र एक बोझ ही महसूस होती। अन्नु के ससुर जल्द ही उसका विवाह कर देना चाहते थे। किंतु मंगला और पढ़ना चाहती थी। उसका साथ दिया उसकी माताजी ने। अन्नु की सोच 'मंगला एक और अन्नु नहीं बनेगी।'-५ एक माँ का पुत्री के प्रति प्रेम, सहयोग और समर्पण का भाव प्रकट करता है। वस्तुतः एक स्त्री जो कष्टों में पली-बढ़ी हो, वह कभी नहीं चाहेगी कि उसकी संतान भी वह कष्ट देखे जो उसे देखने पड़े हैं। जब स्त्री अपने कष्टों से दूसरों को अवगत कराते हुए उसे बचाने के लिए संघर्ष करे तो वहीं स्त्री विमर्श की नींव पड़ जाती है। उपन्यास की दूसरी कथाभूमि के रूप में अन्नू का पुरुष सत्ता के प्रति यह विद्रोह भी देखा जा सकता है।

अन्नु का देवर सतीश, नौकरी के लिए शहर जाता है। समय के साथ-साथ राघव और माधव भी नौकरी की वजह से घर पर नहीं रहते। अन्नु के घर पर मात्र उसके ससुर और पति ही रह जाते हैं। ससुर रघुवीर सिंह रिटायरमेंट के बाद घर पर हैं और पति कैलाश, शिक्षक होने के नाते रोज विद्यालय चले जाते हैं। समय के साथ-साथ ससुर जी का साथ भी सबके बीच से छूट

जाता है। अब घर पर सिर्फ अन्नू और कैलाश ही रह रहे हैं। ससुर के जाने के बाद अन्नु पूरी तरह अकेली हो गई। कैलाश तो सुबह विद्यालय चले जाते और अन्नु घर पर अकेली रह जाती। सतीश का भी घर से मोहभंग हो चुका था जिस कारण वह कभी-कभी ही घर आता। आता भी तो जल्द से जल्द शहर वापस जाने का बहाना भी ढूँढता रहता। राघव और माधव भी शादी के बाद अपने परिवार के साथ ही व्यस्त हो गए थे। उन्हें अपने माता पिता की अधिक फिक्र न थी। समय और उम्र के साथ अन्नु बीमार रहने लगी जो स्वाभाविक था। चूँकि अन्नु को पुरुष सत्ता के साथ जीने की आदत हो गई थी अतः ससुर की मृत्यु के बाद जब वह खाली और अकेले रहने लगी थी, तब खुद को बहलाने का प्रयास करती। किन्तु उसके जीवन में तो ससुर के स्वभाव के साथ जीने की लत लग गई थी। वह खुद को बहला भी नहीं पा रही थी-'एक दो बार उसने रेडियो बजाना चाहा लेकिन बहुत ही धीमी-धीमी आवाज में बजाकर बन्द कर दिया कि कहीं उसे डॉट ना पड़ जाए। घर में उसके अलावा कोई नहीं है, उसे यकीन ही नहीं हो रहा था। उसे हर समय लगता जैसे पिताजी उसे आवाज दे रहे हैं। वो चौंककर उठ जाती लेकिन अपने पास किसीको न पाकर रोने लग जाती। अन्नु बहुत सुस्त रहने लगी थी कैलाश सुबह कॉलेज चले जाते और अन्नू को यह अकेलापन धीरे-धीरे अपनी गिरफ्त में लेने लगा था।' - ६

मनुष्य का एकाकीपन उसे स्वभाव से और अधिक चिड़चिड़ा और गुमसुम बना देता है। अन्नु के साथ भी यही हो रहा था। राघव- माधव भी बच्चों की छुट्टियाँ होने पर ही गाँव आते थे बाकी वर्ष भर उसे अकेले ही जीवन काटना होता था। कैलाश सुबह निकल जाते और रात में थककर आते तो खाना खाकर सो जाते। अन्नू के लिए यही दिनचर्या हो गई थी। वह न किसी से बात कर पाती और न ही किसी से खुद को अभिव्यक्त कर पाती। यह एकाकीपन जरूर उसके मष्तिष्क को कचोटता होगा। किन्तु वह किस्से क्या कहे मात्र घुटन के। इंदु जी लिखती हैं-'अन्नु का एकाकीपन बढ़ता गया और हमेशा शांत रहने वाली अन्नु स्वभाव से चिड़चिड़ी हो गई। कैलाश अन्नु में यह परिवर्तन देखकर असमंजस में थे फिर उन्हें लगा कि शायद मेनोपॉज के समय स्त्रियों का व्यवहार बदल जाता है शायद इसीलिए अन्नु चिड़चिड़ी हो गयी है। समय के साथ-साथ अन्नु का गुस्सा भी बढ़ता रहा।'-७

आज के मशीनी युग में इंसान मात्र मशीन ही बनकर रह गया है। उसके लिए परिवार का अर्थ मात्र पत्नी और बच्चों से ही है। यह अवस्था बुजुर्गों के लिए बहुत कष्टकर होती है। राघव और माधव के घर पर रहते हुए अन्नू को ऐसी ही स्थितियों का सामना करना पड़ता है। राघव के घर पर उसकी बेटी का अपनी दादी को रोबोट की कहानी का सार समझाते हुए कैलाश उसे बताते हैं-' दिक्कत ये कि खुद को मशीन होने से कैसे बचाया जाये और क्यों बचाया जाये के बीच एक गहरी झड़प जारी है। जो मशीन न बनाया खुद को तो चलना दूभर है एक भी कदम और यदि मशीन हो गए खुद, तो फिर जीना नामुमकिन है। इसलिये बेटा अगर सब रोबोट हो गये तो ये संसार नष्ट हो जाएगा इसलिए हमें इंसान ही बने रहना चाहिए। आपकी मैम ने इसीलिए आपसे कहा था कि दादी या बाबा से समझना क्योंकि रोबोट हो जाने का मतलब संवेदनाओं का खत्म हो जाना होता है। सृष्टि रोबोट से नहीं इंसान से चलती है। यदि सब रोबोट हो गए तो सृष्टि नष्ट हो जाएगी और रोबोट नई सृष्टि कभी नहीं रच सकते।' -८ कैलाश के इस कथन को पूरे उपन्यास का सार भी माना जा सकता है।

जिस प्रकार अन्नु को अकेले रहने की लत लग गई थी वैसा ही कुछ हाल कैलाश का भी था। कैलाश रिटायरमेंट के बाद भी कॉलेज चले गए। यह सच है कि इंसान आपको अपनी जरूरतों के हिसाब से सम्मान देता है। शायद कैलाश इस बात से अनभिज्ञ थे। कॉलेज पहुँचने पर सभी शिक्षकों का व्यवहार उनके प्रति बदला- सा था। जो विद्यालय कल तक उन्हें सिर आँखों पर बिठाता था,वहीं वह खुद को अकेला महसूस कर रहे थे। यह कैलाश के मन में बार-बार प्रश्नवाचक चिन्ह लगा रहा था- 'इतने सालों की आदत थी जो अब कैलाश को बेचैन कर रही थी कि कॉलेज जाना है। कॉलेज में सभी ने बड़ी हैरानी से कैलाश को देखा जैसे कोई अजनबी आ गया हो। कैलाश को सबका इस तरह का व्यवहार समझ नहीं आया वो थोड़ी देर तो स्टॉफ रूम में बैठे फिर खुद को असहज पाकर वहाँ से उठकर चल दिये। क्या एक दिन में सब इतने व्यस्त हो गये कि आज किसी के पास वक्त नहीं मेरे पास बैठने के लिए। ताज्जुब है, क्या इतने सालों तक किसी से कोई रिश्ता नहीं रहा?'-९ कैलाश के मन की यह उपज कथाक्रम को विस्तार देने की कड़ी में एक महत्वपूर्ण पड़ाव के रूप में देखा जा सकता है।

गर्मी की छुट्टियों में पंद्रह तारीख को अन्नु और कैलाश की शादी की पचासवीं वर्षगाँठ पर सभी को राघव और माधव ने घर पर बुलाया कि इस अवसर को धूमधाम से मनाया जाएगा। सभी घर पर आए भी किन्तु समय का फेर ऐसा कि इस समय तक अन्नु अपनी स्मृति खो चुकी थी। वह किसी को भी पहचान नहीं पा रही थी सिवाय कैलाश के। वह उन्हें संबोधन में 'राघव के पापा' ही संबोधित करती, पर राघव तक उसकी स्मृति में नहीं था। उसके एकाकीपन ने उसे दीन दुनिया से दूर ही कर दिया। इसकी वजह बना 'अल्जाइमर'। सब अन्नु को अपनी-अपनी याद दिलाने का प्रयास कर रहे थे किंतु उसे कुछ भी याद नहीं आ रहा था। सबके एक साथ घर आने और सबको रोते देखकर अन्नु कैलाश से पूछती है-'राघव के पापा क्या हुआ है, यह सब क्यों रो रहे हैं? आप ही इनसे पूछो क्या कोई मर गया है इनके यहाँ? बड़े ही परेशान लग रहे हैं सब बेचारे' -१० अन्नु कुछ भी समझ नहीं पा रही थी। कैलाश ने उसे यही बताया कि इनके यहाँ मौत ही हुई है। वस्तुतः यह एक मृत्यु ही थी अन्नु की, जो जीते जी लाश बन चुकी थी। भौतिकता की अंधी दौड़ में भागते लोग समय रहते इसे नहीं समझ सके। परिवार, रिश्तों और मित्रों के होते हुए भी व्यक्ति कितना एकाकी हो सकता है इसे लेखिका ने बखूबी शब्द दिया है जो संवेदनाओं के धरातल पर तो अपना मजबूत पक्ष रखते ही हैं, परिवार व्यवस्था को भी समझने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। उपन्यास के अंत में राघव का यह विचार यहाँ रेखांकित करने योग्य है- 'मम्मी की यह हालत होगी इसका उसे अनुमान क्यों न हुआ। क्या माधव भी मम्मी के इस हाल से अनभिज्ञ था। क्या बुआ, चाचा, मंगला किसी को मम्मी की बिगड़ती तबीयत का पता नहीं चला? क्या मामा को मालूम है कि उनकी बहन किस हाल में है? क्या हम में से किसी के पास भी मम्मी के लिए समय नहीं था? मम्मी अब मेरे साथ रहेंगी पापा, कहते हुए राघव का गला भर आया।'-११

कुल मिलाकर बेहटा कलां उपन्यास बैसवाड़े की संस्कृति और रीति-नीति का प्रतिनिधित्व करता महत्वपूर्ण उपन्यास है। बेहटा कलां उपन्यास के बहाने लेखिका ने एक स्थान विशेष की संस्कृति, रहन- सहन, खानपान को चित्रित किया है। किसी ग्रामीण क्षेत्र की स्थिति-परिस्थिति और संस्कृति का अध्ययन इस उपन्यास के माध्यम से किया जा सकता है। बेहटा कलां की कथा भूमि मात्र कथा न होकर बैसवाड़े के सांस्कृतिक अध्ययन का एक दस्तावेज है।

संदर्भ सूची-

१- विजय राय-रचना के विषय में-बेहटा कलां(मूल उपन्यास)- इंडिया नेटबुक्स प्राइवेट लिमिटेड नोएडा- प्रथम संस्करण २०२२-पृष्ठ नग

२-इंदु सिंह-बेहटा कलां-इंडिया नेटबुक्स प्राइवेट लिमिटेड नोएडा-संस्करण २०२२-पृष्ठ १

३-वही-पृष्ठ ४

४-वही- पृष्ठ ६

५- वही- पृष्ठ ९

६- वही- पृष्ठ ११५

७- वही-पृष्ठ ११७

८- वही- पृष्ठ १२२

९- वही- पृष्ठ १३१

१०-वही-पृष्ठ १३५

११-वही-पृष्ठ १३६

पता-पूरे गुरदी, कोरिहरा,पोस्ट सेमरपहा लालगंज रायबरेली-२२९२०६

भारतीय सामाजिक संरचना में स्त्री

रिंकी कुमारी

शोधछात्रा
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी।

मनुष्य और समाज का एक-दूसरे से अन्योन्याश्रित संबंध है, इसलिए इन्हें अलग करना मुश्किल है। समाज की प्राथमिक इकाई परिवार है और परिवार का निर्माण स्त्री-पुरुष दोनों से होता है। इसमें दोनों का अपना-अपना महत्वपूर्ण स्थान है। सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में विचार करें तो यह मिथक परिचलित है कि सृष्टि का निर्माण 'आदम- हौआ' या 'मनु- श्रद्धा' ने की है। जिसको दर्शन में 'पुरुष और प्रकृति' के रूप में व्याख्यायित किया गया है। इस तरह हम देखते हैं कि बिना स्त्री-पुरूष के सृष्टि का सृजन असम्भव है, तो हम स्त्रीविहीन समाज की परिकल्पना कैसे कर सकते हैं? इसलिए समाज के निर्माण में दोनों की समान सहभागिता है। प्रकृति की संरचना में स्त्री-पुरुष में कोई भेद नहीं है, दोनों अपनी मूल संरचना में स्वतंत्र और एक-दूसरे के पूरक हैं।

जब हम भारतीय समाज के इतिहास पर दृष्टि डालते हैं तो देखते हैं विभिन्न युगों में भारतीय स्त्री की स्थिति में बदलाव आया है। प्राचीन काल से लेकर अब तक बहुत सारे उतार-चढ़ाव देखने और सुनने को मिलते हैं, इसके पीछे हमेशा से पुरुषवादी सत्ता रही है। डॉ. शीला रजवार लिखती हैं- 'परम्परागत मानसिकता ने नारी को देवी और दानवी दो भागों में बाँट दिया है। कहीं उसके गुणों को देखकर दानवी कहकर भर्त्सना की है। किन्तु वास्तविकता यह है कि न तो वह देवी है न दानवी। वह मानवी है उसमें दया, माया, ममता, विश्वास है।'१ इस तरह विभिन्न कालों में नारी किसी न किसी रूप में चिंता का विषय रही। नारी की उत्पत्ति के संबंध में भारतीय साहित्य के आधार पर कहा गया है कि - 'विश्व निर्माता प्रजापति आरम्भ में एकाकी था। बाद में वह स्वयं को ही दो भागों में विभक्त करके एक भाग को पत्नी और दूसरे भाग को पति बना दिया।'२ इस तरह पुरूष के एकाकीपन को दूर करने के लिए स्त्री का जन्म हुआ।

जहाँ तक वैदिक काल की बात है इस काल में स्त्रियों को पूज्य माना जाता था, उन्हें पुरुषों के समतुल्य रखा गया। इस काल में स्त्रियों का अपमान करना पाप और स्त्रियों की रक्षा करना पुरूष अपना कर्तव्य समझता था। शस्त्रों में कहा भी गया है-

'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रिया ।।'३

अर्थात, जहाँ स्त्रियों का सम्मान होता है, वहाँ देवताओं का निवास होता है और जहाँ उसका अनादर होता है,

वहाँ समस्त कार्य असफल हो जाते हैं। घोषा, अपाला, गार्गी, लोपामुद्रा जैसी विदुषियाँ इसी काल की देन है, जिन्होंने अपने तेजोबल से नारी बल को प्रस्थापित किया है।

लेकिन उत्तरवैदिक काल नारियों के पतन का आरंभिक काल साबित हुआ। इस काल में बहुविवाह का प्रचलन बढ़ गया, पुत्री जन्म को अशुभ माना जाने लगा और स्त्री के शिक्षा पर अंकुश लगने लगा। मनुवादी व्यवस्था में स्त्रियों को सैद्धांतिक रूप से समाज में सम्मान तो दिया गया, लेकिन सुरक्षा के नाम पर उनकी विभिन्न अवस्थाओं पर पाबन्दी लगा दी गयीः-

'पिता रक्षति कौमारेभर्त्तारक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्राः न स्त्री स्वातत्र्यमर्हति।।'४

इस तरह उनकी सुरक्षा के नाम पर उनकी आजादी छीनी जाने लगी। वेद अध्ययन, यज्ञ एवं अनेक धार्मिक कृत्यों पर प्रतिबंध लगा दिए गए। साथ ही विधवा-पुनर्विवाह पर रोक तथा शिक्षा ग्रहण करने के नियम कठोर कर दिए गए, जिससे महिलाओं की स्थिति में तेजी से गिरावट आने लगी। तत्कालीन मनुवादी व्यवस्था और स्वातंत्र्योत्तर भारत के लोकतांत्रिक व्यवस्था में कुछ खास अंतर नहीं है, समय परिवर्तन के साथ इसमें भी दोष उत्पन्न होने लगा है और स्त्री की स्वाधीनता धीरे-धीरे पराधीनता में तब्दील होने लगी है। आज भी जब औरतों पर शारीरिक व मानसिक अत्याचार होता है तो स्त्रियों के स्वतंत्र विचरण और स्वतंत्र मानसिकता पर ही सवाल उठाया जाता है। यह हमारे समाज की बहुत बड़ी विडम्बना है कि हमेशा से दबे हुए को ही दबाया जाता रहा है।

मध्यकाल में जैसे ही भारत में इस्लामी आक्रमण हुए, आक्रमणकारियों ने पहले संघर्ष किया फिर सांस्कृतिक परिवेश के लिए जमीन तैयार की जिसका दुष्परिणाम सबसे ज्यादा स्त्रियों को ही भुगतना पड़ा। मध्यकालीन समाज में स्त्री को तमाम सामाजिक बंधनों और कुरीतियों में जकड़ दिया गया। ऐसा कुरान में कहा गया है कि स्त्री की उत्पत्ति मर्द की पसली की हड्डी से हुई है और इसका कर्तव्य है मर्द को खुश रखना, अन्यथा वह जहन्नुम की हकदार होगी। इससे स्पष्ट होता है इस्लाम के भारत आगमन से सामाजिक भेदभाव और बढ़ गया। बाल विवाह, पर्दा-प्रथा, सती-प्रथा पर था आदि बुराइयों का बोलबाला हो गया। जिस कारण कन्या जन्म सामाजिक अप्रतिष्ठा का विषय बन गया।

लेकिन समय सदैव एक-सा नहीं रहता, १९वीं सदी में चीजें काफी हद तक बदल रही थीं और स्त्री की समस्याओं को आधुनिकता के आईने में आँकने का प्रयास किया जाने लगा था। समाज में प्रचलित घृणित रीति-रिवाज, भेदभाव आदि के खिलाफ जनमानस को जागृत करने की शुरुआत इस युग में हुई। सती-प्रथा, बालिका-वध, बाल-विवाह, भ्रूण-हत्या, वैधव्य जैसी सामाजिक कुरीतियों को समाप्त करने की प्रयत्नों की ओर समाज सुधारक और सरकार प्रेरित हुए। स्त्रियों की स्थिति में बदलाव की जमीन यहीं से तैयार होती है। राजा राममोहन राय के ब्रह्म समाज ने सती-प्रथा(१८२९ई.) बंद की और विधवा-पुनर्विवाह(१८५६ई.) प्रारम्भ की। आर्य समाज ने लड़के-लड़कियों के विवाह हेतु और समाज को सबल आधार प्रदान करने के लिए लड़कों के विवाह की उम्र २५ और लड़की की १६ वर्ष की आयु निर्धारित की। वहीं सत्यशोधक समाज के कार्यकर्ता ज्योतिबाफुले ने समाज के सताए व कमजोर वर्ग के लिए अनेक कार्य किया। इस तरह राजा राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, दयानंद सरस्वती, महादेव गोविंद रानाडे, ज्योतिबाफुले, पंडिता रमाबाई, महर्षि कर्वे, महात्मा गांधी जैसे समाज-सुधारको ने सामाजिक बुराइयों को समाप्त कर स्त्री की स्थिति में सुधार का बीड़ा उठाया, जिसमें वे काफी हद तक सफल भी हुए। साथ ही औपनिवेशिक शासकों ने भी नारी शिक्षा के महत्त्व पर ध्यान दिया गया, इस संदर्भ में राम अहूजा लिखते हैं- 'भक्ति आंदोलन के बाद ईसाई मिशनरियों ने स्त्री की शिक्षा में रुचि लेना आरंभ किया। सन् १९२८ ई.

में सबसे पहले लड़कियों का स्कूल बम्बई में प्रारंभ हुआ।'५

पश्चिमी में स्त्री चेतना की शुरुआत औद्योगिक क्रांति से हुई। भारत में उस रूप में तो नहीं, लेकिन महात्मा गांधी के स्वतंत्रता आंदोलन ने स्त्रियों को घर की चाहरदीवारी से बाहर देश को आजाद करने और घर-परिवार की सीमा की बजाय देश की सीमा तक उनकी सोच को विस्तृत करने में एक बहुत बड़ी भूमिका निभाई। स्वयं महात्मा गांधी कहते हैं- 'स्त्री-पुरुष की सहचारी है और उसमें पुरुष के समान योग्यता है। पुरूष की सूक्ष्मातिसूक्ष्म कार्य में भी उसे हिस्सा बाँटने का अधिकार है और पुरुष के समान ही उसे भी स्वाधीनता और सफलता प्राप्त है। पुरूष के अपने कर्म क्षेत्र में जिस प्रकार महत्वपूर्ण स्थान मिला है उसी तरह उसके क्षेत्र में उसे भी वह स्थिति केवल पढ़ने-लिखने के परिणाम स्वरूप नहीं है, बल्कि यह तो स्वाभाविक स्थिति है।'६ कस्तूरबा गांधी, सावित्रीबाई फुले, लक्ष्मी सहगल, गीता बहन, पंडिता रमाबाई, सरोजिनी नायडू, कमला नेहरू, अरूणा आसफ अली आदि असंख्य महिलाएं इसकी उद्धरण है। जिन्होंने स्त्रियों के सामाजिक अधिकारी के पक्ष में अभियान छेड़ दिया था। वहाँ से उठी एक छोटी-सी चिंगारी ने १९वीं सदी के उत्तरार्ध तक आते-आते बड़ा रुप ले लिया। स्त्री-शक्ति और मुक्ति का यह स्वर आज सामाजिक परिवेश में परिवर्तन के साथ-साथ सभी जगहों पर सुनाई दे रही है।

नारी के साथ हो रहे अत्याचार और अन्याय को जड़ से खत्म करने के लिए कई महिला संगठनों की स्थापना की गई। बंगमहिला समाज, महिला थियोसॉफिकल सोसायटी, भारत महिला परिषद, भारत स्त्री महामंडल, भारतीय महिला संघ(ऐनी बेसेंट द्वारा संचालित), भारतीय महिला राष्ट्रीय परिषद, कस्तूरबा गांधी स्मारक ट्रस्ट तथा ऑल इंडिया विमेन कॉन्फ्रेंस आदि महिला संगठनों ने स्त्रियों की समस्या को सुलझाने का प्रयास किया। 'महिलाओं को पुरुषों के बराबर समान अधिकार देना अर्थात् पुरुषों को मिले हुए राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक अधिकारों को नारी को भी उपलब्ध करके देना इनका प्रमुख लक्ष्य बन गया।'७

यदि हम भारतीय साहित्य की ओर रुख करते है तो साहित्य के हर विधा में स्त्री केंद्रित अनेक रचनाओं का सृजन हुआ है। ऐसा माना जाता है कि उपन्यास का जन्म मध्यवर्ग में हुआ, लेकिन यह केवल मध्यवर्ग की महागाथा नहीं है अपितु हम इसे भारतीय स्त्री की जीवनगाथा के रूप में देख सकते हैं। प्रारम्भिक उपन्यासों में चाहे वह किसी भी भाषा में लिखी गयी हो, उसमें स्त्री गाथा प्रमुखता से दर्ज है। 'भारतेंदू कालखंड से लेकर आज तक के सभी उपन्यासों पर दृष्टिक्षेप डालें तो यह स्पष्ट होता है कि अधिकांश उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में कुछ ऐसे नारी पात्रों की योजना की है जो नारी के शोषण, उन पर होने वाले अन्याय, अत्याचार, विभिन्न समस्याएं, उनसे मुक्ति अपने स्व की खोजष्ठ. आदि को व्यक्त करने में सक्षम है।'८ बांग्ला के शरतचन्द्र, बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, रवींद्रनाथ टैगोर, उर्दू के मिर्जा हादी 'रुसवा', हिंदी के पंडित गौरीदत्त, श्रद्धाराम फुलौरी, राधाकृष्ण दास, किशोरीलाल गोस्वामी, भारतेंदु हरिश्चंद्र, जयशंकर प्रसाद, हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद आदि ने अपने-अपने उपन्यासों में स्त्री केंद्रित कथानक व उसके जीवन गाथा को माध्यम बनाया।

बांग्ला के बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय का पहला उपन्यास 'दुर्गेश नंदिनी' (१८६५ई) है। इस उपन्यास में राजकुमार जगतसिंह और मुस्लिम शहजादी आयशा की प्रेम कहानी है। इसमें नारी का उदात्त चरित्र प्रस्तुत किया गया है। महिलाओं के बदहाली और बर्बादी पर लिखा गया एक उपन्यास, जो समाज में खुद से नहीं बल्कि उसकी परिस्थितियाँ उसे समाज में दुर्गति से भरे जीवन जीने के लिए मजबूर करती है। आयशा का बलिदान हमारे हृदय पर अमिट छाप छोड़ जाता है। वही मिर्जा हादी 'रुसवा' का उर्दू में लिखा उपन्यास 'उमराव जान अदा' (१८९९ई) में अमीरन अपने हंसी-खुशी भरी जिंदगी से विमुख होकर

लखनऊ की वेश्या बनने को मजबूर हो जाती है और तमाम कष्टों को झेलती है। यह उपन्यास उस समय की तमाम परिस्थितियों को उजागर करता है। 'सेवासदन' की सुमन के माध्यम से प्रेमचंद समाज को यह समझाना चाहते हैं कि वैश्याएँ जन्म से ही पतिता नहीं होती बल्कि उनकी करुणादायकदशा का लाभ उठाकर समाज के द्वारा ही उन्हें पाप कर्मों में लिप्त होने के लिए विवश किया जाता है। श्रद्धाराम फुल्लौरी की 'भाग्यवती' अपने समय का महत्वपूर्ण उपन्यास है, जिसमें लेखक ने स्थापित किया है कि 'जो नारी विद्यावती सो कैसे दुख पाय।' इस उपन्यास की नायिका भाग्यवती अपने ज्ञान, संयम, संतोष व मन की दृढ़ता से जीवन के संघर्षों का सामना करते हुए अंत में परिवार व समाज में सम्मान अर्जित करती है। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में महामाया के माध्यम से कहा है- 'स्त्री प्रकृति है और जिसकी सार्थकता पुरूष को बांधने में है। पुरूष को पूर्णता पाने के लिए 'स्त्री' की आवश्यकता निरंतर अनुभव करनी पड़ती है। जो इस स्त्री शक्ति की उपेक्षा करता है, वह पूर्णता से दूर रहता है।'९ वहीं जयशंकर प्रसाद ने अपने सभी नाटकों में ऐतिहासिकता के साथ-साथ स्त्री को आधार बना कर लिखा है, जो हमें चंद्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, ध्रुवस्वामिनी आदि नाटकों में देखने को मिलता है। इस तरह गद्य साहित्य के शुरुआती दौर से स्त्री केंद्र में रही है। वह एक ऐसे चरित्र के रूप में उभर कर आयीं है जो समाज की विषंगतियों को उजागर करती है, साथ ही उन समस्याओं का समाधान भी लेकर उपस्थित होती हैं। उनके माध्यम से समाज- व्यवस्था की बुराइयों में सुधार की संभावना तलाश की जा रही है। अब तो महिला साहित्यकारों की संख्या भी बहुतायत में हो गयी है। वह अपने बारे में और समाज के बारे में खुल कर लिख रही हैं। जिनमें प्रमुख नाम है- मीराबाई, महादेवी वर्मा, मनु भण्डारी, चित्रा मुद्गल, मृदुला गर्ग, कृष्णा सोबती आदि का है।

पुरुषसत्ता की जकड़न से स्त्री हमेशा से ही प्रभावित रही है। इसीलिए नारीवादी लेखिका सिमोन द बोउवार ने कहा है 'स्त्री पैदा नहीं होती, बनाई जाती है।' अर्थात, स्त्री का जन्म भी पुरूष की ही तरह स्वतंत्र होता है, लेकिन उसे कोमल, अबला आदि नामों से विभूषित कर उसे घर के कमरों में बंद कर दिया जाता है। लेकिन जिन-जिन ने घर की चाहरदिवारी को लांघा है, यकीनन उसने अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व बनाया है। आज महिलाओं के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, शैक्षणिक व सांस्कृतिक स्थिति में बदलाव आया है। उसके अंदर निणय्य लेने की क्षमता का विकास हुआ है, आज वह अपने हक की लड़ाई स्वयं लड़ती है भले ही इसके लिए उसे आंदोलन क्यों न करना पड़े। इस संदर्भ में सरोजिनी नायडू का कथन है- 'स्त्रियाँ अब पुरुषों के हाथ का खिलौना नहीं रह गई हैं और उनमें जागृति भर उठी है। स्त्रियां अपने अधिकारों की मांग इसलिए नहीं कर रही हैं कि उन्हें पाकर किसी के प्रति अत्याचार किया जाए। बल्कि हमें तो अपने अधिकारों को प्राप्त करने की आवश्यकता इसलिए है जिससे कि हम अपने उन दायित्वों का पालन कर सकें जो हमारे अधिकारों से संबद्ध हैं।'१०

महिलाओं के अधिकार संबंधी संविधान में कई प्रावधान है। मौलिक अधिकार में वर्णित अनुच्छेद १४, १५, १६(२) स्त्रियों को काम के अवसर प्रदान करती है, ताकि उनके साथ कार्यस्थल में किसी भी प्रकार का भेदभाव न हो सके। वहीं अनुच्छेद ३९ स्त्री-पुरूष को आजीविका का समान अधिकार प्रदान करता है अर्थात् बिना किसी भेदभाव के समान कार्यों के लिए समान वेतन दिया जाय। इससे महिलाओं का श्रमबल में प्रतिशत बढ़ा है। शिक्षा के उच्च आयामों के साथ-साथ उच्च पदों पर आसीन हो रही है। द्रौपदी मुर्मू, प्रतिभा पाटिल, इंदिरा नुई, किरण मजमुदार आदि इसके उदाहरण है। हमारे लिए गर्व का विषय है कि देश के उच्चतम पद में कोई आदिवासी महिला विराजमान है। राजनीतिक संदर्भों में महिलाओं की जागरूकता में

वृद्धि हुई है। पंचायतों में ५०इ आरक्षण से महिलाओं की राजनीतिक सक्रियता बढ़ी है। इंदिरा गांधी, सुषमा स्वराज, ममता बनर्जी, जयललिता, मायावती समेत कुशल महिलाएं भारतीय राजनीति को नई दिशा दे रहे हैं। खेल के क्षेत्र में महिलाएं अपना लोहा मनवा रही हैं और अपने देश को गर्वित कर रही हैं। पहले कभी खेल पर केवल पुरुषों का ही एकक्षत्र अधिकार हुआ करता था और महिलाओं को उनका कॉपीराइट समझा जाता था, अपने यहाँ तो कहावत भी है-'मोहन कबड्डी खेलेगा, राधा बर्तन धोएगी।' इस कहावत को गलत सिद्ध करते हुए आज भारत में खेल के क्षेत्र में भारतीय नारी ने अभूतपूर्व प्रगति की है। मिसाल के तौर पर मीराबाई चानू (भारोत्तोलन), लवलीना बोरगोहे(मुक्केबाजी), पीवी सिंधु (बैडमिंटन), पीटी उषा, सानिया मिर्ज़ा आदि का नाम उल्लेखनीय है। इसके साथ-साथ रक्षा के क्षेत्र में लड़ाकू विमान की पायलट के रूप में भावना कंठ, अवनी चतुर्वेदी, शिवांगी सिंह जैसी नारियों की स्वीकृति भी इस मुहिम की बदलती तस्वीर को बयां करती है।

अंततः वैश्वीकरण और बाजारवाद के इस दौर में अपने अस्तित्व और अस्मिता को बचाए रखने के लिए स्त्रियों ने जिस तरह से कमर कस ली है, वह सराहनीय है। जिससे स्त्री समाज की प्रगति हुई है। बेहतर भविष्य की तलाश में प्रयासरत स्त्री का संघर्ष आज भी जारी है जिसकी प्रतिक्रिया हमें साहित्य में स्त्री-विमर्श के रूप में देखने को मिलती है। जो संघर्षशील नारी को पुरातन बेड़ियों से मुक्त कर नयी दिशा देने में समर्थ है। यह भविष्य के लिए एक शुभ संकेत है।

सन्दर्भ सूचीः-

१. डॉ. ठाकुर विजय सिंह, निर्मल वर्मा के साहित्य में नारी, पृष्ठ-९२

२. डॉ. ठाकुर विजय सिंह, निर्मल वर्मा के साहित्य में नारी, पृष्ठ-५१

३. मुनुस्मृति.३.५६

४. मनुस्मृति.९.३

५. डॉ वैशाली देशपांडे, स्त्रीवाद और महिला उपन्यासकार, पृ-१३

६. सुधा सिंह, जगदीश चतुर्वेदी, स्वाधीनता संग्राम हिंदी प्रेस और स्त्री का वैकल्पिक क्षेत्र, पृ-३८३

७. डॉ वैशाली देशपांडे, स्त्रीवादी और महिला उपन्यासकार, पृ- ४८

८. डॉ वैशाली देशपांडे, स्त्रीवादी और महिला उपन्यासकार, पृ-६३

९. हजारीप्रसाद द्विवेदी, बाणभट्ट की आत्मकथा, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण-२०१८, पृष्ठ-६२

१०. सुधा सिंह, जगदीश चतुर्वेदी, स्वाधीनता संग्राम हिंदी प्रेस और स्त्री का वैकल्पिक क्षेत्र, पृ-१४०

नामः- रिंकी कुमारी

पदः- शोधछात्रा

संस्थाः- काशी हिंदू विश्वविद्यालय

शहरः- वाराणसी

ईमेलः-ीहर्व्ीू२रुर्ंस्त.म्दस

मोबाईल नम्बरः- ८९३२९०६२७९,८६७४८१११२५

आम जनजीवन की लय से संगीत रचती नरेश सक्सेना की कविताएं

यशवंत कुमार विश्वकर्मा

शोधार्थी
दिल्ली विश्वविद्यालय
मो.७६५२०८४९०१

नरेश सक्सेना महत्त्वपूर्ण समकालीन हिन्दी कवि हैं। हाल के वर्षों में हिन्दी कविता की दुनिया में इनकी पूछ तेजी से बढ़ी है। इसका अर्थ यह कतई नहीं है कि इससे पहले की लिखी इनकी कविताएं संवेदना और शिल्प के किसी भी प्रतिमान पर कमजोर थीं और अचानक से ये कविता की दुनिया में चमत्कार करने लगे हों,बल्कि यह कहना ही अधिक तार्किक होगा कि देर से ही लेकिन हिन्दी कविता के पाठकों में अच्छी कविता की समझ और उसके प्रति आदर का भाव पैदा हो रहा है?।यह समग्र हिन्दी साहित्य जगत के लिए एक सुखद सूचना है।इनकी कविताओं पर टिप्पणी करते हुए कवि 'विष्णु खरे' ने ठीक ही लिखा है-'विज्ञान, तकनीकी, प्रकृति व पर्यावरण से गहरे सरोकारों के बावजूद नरेश सक्सेना की कविता कुछ अपूर्ण ही रहती यदि उसके केन्द्र में असंदिग्ध मानव प्रतिबद्धता, जिजीविषा और संघर्षशीलता न होती।'

साठ साल की उम्र तक कवि नरेश सक्सेना की कोई भी कविता-संग्रह प्रकाशित नहीं हुई थी।बिना किसी पुस्तक के ही इन्हें सन २००० ई का 'पहल सम्मान' देने की घोषणा हुई, फलस्वरूप पुस्तक का प्रकाशन अनिवार्य हो गया और तब जाकर इनकी पहली कविता-संग्रह 'समुद्र पर हो रही है बारिश' सन २००१ में छपी।इसके अलावा 'सुनो चारुशीला' नामक एक अन्य कविता-संग्रह भी इनकी २०१२ ई में प्रकाशित हो चुकी है।इस तरह समकालीन हिन्दी कविता की दुनिया में,उम्र के इस पड़ाव पर जब सामान्य कवियों की भी दर्जनों पुस्तकें प्रकाशित हो जाती है,वहीं नरेश सक्सेना इस समय में अपने महज दो कविता-संग्रह के साथ इस समाज में अल्पसंख्यक जान पड़ते हैं। किंतु,इतनी कम कविताओं के साथ भी इस धारा में महत्त्वपूर्ण कहलाना इनके कविताओं की परिपक्वता और उसकी गहराई को प्रदर्शित करती है।नरेश सक्सेना अपनी कविता-संग्रह 'समुद्र पर हो रही है बारिश' की भूमिका में स्वयं लिखते हैं-

'१९५८ में इंजीनियरिंग कॉलेज में दाखिले के बाद जबलपुर आ गया था। ज्ञानरंजन, विनोद कुमार शुक्ल और मै लगभग रोज़ शाम को मिलते थे और देर रात तक टहलते थे।परसाई जी के यहां जाना भी नियमित था।वहीं मुक्तिबोध,शरद जोशी,नामवर सिंह आदि से मिलना हुआ।इससे पहले ग्वालियर में निदा फ़ाज़ली,ओम प्रभाकर,नागबोडस का साथ होता था।मेरी जो भी टूटी-फूटी रचनात्मकता है,उसके नाभिक का निर्माण उन्ही दिनों हो रहा था।'

आज के समय में जब आत्मप्रशंसा और दिखावे की संस्कृति की लहर चल रही है तब कोई बड़ा कवि अपनी रचनात्मकता को 'टूटी-फूटी' कहकर संबोधित कह रहा हो तो निश्चित ही वह बेहद विनम्र और परिपक्व होगा जो कि कवि होने की शुरुआती शर्त है। नरेश सक्सेना

की कविताओं के धरातल का निर्माण आम जनजीवन की घटनाओं से होता है।एक बेहद सामान्य कथन को भी कविता में तब्दील करने की क्षमता उनके भीतर का कवि रखता है।'रातभर' शीर्षक कविता में वे लिखते हैं-

'रातभर चलती हैं रेलें
ट्रक ढोते हैं माल रातभर
कारखाने चलते हैं
कामगार रहते हैं बेहोश
होशमंद करवटें बदलते हैं रातभर
अपराधी सोते हैं
अपराधों का कोई संबंध अब
अंधेरे से नहीं रहा।
सुबह सभी दफ्तर खुलते हैं
अपराध के।'

(समुद्र पर हो रही है बारिश,पृष्ठ -६८)

यह कविता क्रमशः विकसित होते समाज में अपराधों की स्वीकार्यता की ओर संकेत करते हुए आज हो रहे अपराधों और एक-दो दशक पहले हो रहे अपराधों की बीच अंतर को भी स्पष्ट कर रही है।पहले अधिकतर अपराध रात को होते थे।दिन में अपराधियों को भी व्यवस्था और लोकलाज का भय था लेकिन अब के अपराधी दिन की रौशनी में धड़ल्ले से अपराध करते घूम रहे हैं।सरकारें बकायदा इन अपराधियों की नियुक्ति कर रही है।ये सरकारी दफ्तरों में 'अपराधी' के पद पर तैनात हैं,इसके बरक्स इनका पद भले प्रशासनिक अधिकारी,क्लर्क,बाबू या चपरासी कुछ भी हो।

सामाजिक परिप्रेक्ष्य में लिखी इनकी कविताएं बहुआयमी विषयों को समेटे हुए हैं।इन कविताओं में स्त्री चेतना के स्वर भी हैं और दलित चेतना के भी।इनकी कविता में समाज के वंचित और पिछड़े वर्गों के प्रति सहानुभूति भी है और पूंजीपतियों के अन्यायी हाथों का पर्दाफाश भी।इनकी कविता बच्चों के अधिकारों का बचाव करती हुई भी दिखती है और वृद्धों के लिए इसी तेजी से साक्षर होते समाज में गुम होती जगहों को बचाने की पैमाइश करती हुई भी।'नींद में या बेहोशी में' शीर्षक कविता में वे लिखते हैं-

'ओ गिट्टी-लदे ट्रक पर सोये हुए आदमी
तुम नींद में हो या बेहोशी में
गिट्टी लदा हुआ ट्रक और
तलवों पर पिघलता हुआ कोलतार
ऐसे में क्या नींद आती है?
दिनभर तुमने गिट्टियां नहीं
अपनी हड्डियां तोड़ी हैं और हिसाब
गिट्टियों का भी नहीं पाया।'

(वही,पृष्ठ-३८)

कौवों को प्रतीक के रूप में इस्तेमाल करते हुए वो रंगभेद के खिलाफ भी लिखते हुए दिखाई देते हैं।कवि के पास भले ही किसी एक देश की नागरिकता हो लेकिन उसकी दृष्टि व्यापक है और उसकी कविता विश्वभर के वर्तमान और अतीत के अन्याय के दस्तावेजों का समकाल में परीक्षण करती हुई और अन्यायियों को कटघरे में खड़ी करती हुई दिखाई देती है।'कौवेः२' शीर्षक कविता में वे लिखते हैं-

'बत्तखों से कम कर्कश
और कोयलों से कम चालाक
बल्कि भोले माने जाते कौवे
बशर्ते वे किसी और रंग के होते
मगर वे काले होते हैं
बस यहीं से उनके दुखों की शुरुआत होती है
गोरी जातियों से पराजित हमारा अतीत
कौओं का पीछा नहीं छोड़ता।'

(वही,पृष्ठ-७८)

बालश्रम से संबंधित अधिनियमों और सरकारी मशीनरी की चौकसी के बावजूद धरातल पर इसपर थोड़ा भी लगाम लगता हुआ दिखाई नहीं देता।यह एक तरह से

इससे संबंधित सरकारी मशीनरी की पराजय तो है ही किंतु हमारी भी पराजय है क्योंकि इसकी शुरुआत कहीं न कहीं हमारे घर से और खुद से भी होती है।चाय की दुकानों पर बैठकर तथाकथित 'छोटू' को गर्म चाय के लिए आवाज़ भी हम ही देते है? और ढाबों पर थालियों में एक्स्ट्रा नमक और मिर्च की मांग की पूर्ति भी 'छोटू' जैसे बालश्रमिक ही करते है?।दरअसल सस्ते में सुलभ श्रम की लत हमें भी लग चुकी है,इसलिए इसके खात्मे की शुरुआत भी सबसे पहले हमीं से होनी चाहिए।'अच्छे बच्चे' शीर्षक कविता में नरेश सक्सेना लिखते हैं-

'कुछ बच्चे बहुत अच्छे होते हैं
वे गेंद और गुब्बारे नहीं मांगते
मिठाई नहीं मांगते जिद नहीं करते
और मचलते तो है ही नहीं
बड़ों का कहना मानते है वे
छोटो को कहना भी मानते हैं,
इतने अच्छे होते हैं
इतने अच्छे बच्चों की तलाश में रहते हैं हम
और मिलते ही
उन्हें ले आते हैं घर अक्सर
तीस रुपए महीने और खाने पर।'

(वही,पृष्ठ-८७)

राजनीतिक परिदृश्यों पर आधारित इनकी कविताएं राजनीति के अतीत और वर्तमान का पोस्टमार्टम करती हैं।'राजनीति' जिसपर देश के विकास और अन्याय के खिलाफ लड़ाई का सर्वाधिक दारोमदार था,उसके पुरोधा खुद ही अन्याय करते हुए और अपराधियों की पक्षधरता करते हुए दिखाई देते हैं।जिनसे संवैधानिक मूल्यों के संरक्षण की अपील थी वे खुद इन मूल्यों की निर्मम हत्या में लगे हुए दिखाई देते हैं।इससे आगे बढ़कर इनका दोहरा चरित्र समस्याओं को और जटिल बना देता है।वो न्याय और नैतिकता का मुखौटा पहनकर अन्यायी और अनैतिक की तरह काम करते हैं और किसी आततायी से कम नज़र नहीं आते?।'मेज' शीर्षक कविता में नरेश सक्सेना ऐसे ही दोहरे चरित्र वाले लोगों का पर्दाफाश करते हुए दिखाई देते हैं-

'किसी कवि की तरह तेज़ था वह अपराधी
जिसने एक झूलते हुए वृक्ष को देखा
और कहा
देखो-देखो एक मेज झूम रही है
मेज पर ही उसे दिखे फल और फूल
चहकती हुई चिडि़या उसे मेज पर ही दिखी
झूम रहे वृक्ष पर
आखिर उसने डाल दिया मेजपोश।'

(वही,पृष्ठ-२२)

ॅॅअ(लोकतांत्रिक सुधार संगठन) की एक रिपोर्ट के अनुसार १६वीं लोकसभा में जहां कुल सांसदों में से ३४इ पर आपराधिक मुकदमे लंबित थे वहीं १७वीं लोकसभा में यह आंकड़ा ४३इ हो गया है।इसमें भी २९इ सांसदों के खिलाफ हत्या,बलात्कार और अपहरण जैसे गंभीर मामले लंबित हैं।ऐसे सांसदों से हम क्या ही उम्मीद कर सकते है।वे किस तरह के कानून बनाएंगे और उनकी पक्षधरता किधर होगी,इस पर गंभीरता से विचार करना होगा।वहीं दूसरी ओर चूकिं सांसद या विधायक स्थानीय प्रशासन को बड़े पैमाने पर प्रभावित करने के साथ-साथ प्रत्यायोजित विधायन(ार्ीू तुर्ेंूदह) को भी बड़े पैमाने पर प्रभावित करते हैं,ऐसी स्थिति में आपराधिक प्रवृत्ति के सांसदों की उपस्थिति के कारण स्थानीय प्रशासन की गुणवत्ता पर भी प्रश्नचिन्ह खड़ा होता है।

नरेश सक्सेना की राजनितिक बोध की कविताओं में इतिहासबोध भी है।इतिहास में 'किलों' का अपना राजनीतिक महत्त्व रहा है।ऐसा माना जाता है कि यदि कोई राजा अपने प्रतिपक्षी राजा के किले को जीत लेता था तो प्रतिपक्षी राजा हार मान लेता था।इस तरह समतल मैदानों से शुरू हुआ युद्ध अंततः किलों के दरवाजों और दीवारों तक जाकर रुक जाता था और अंत में किले ही भावी राजसिंहासन पर अधिकार का निणय करते थे। नरेश सक्सेना अपनी कविता के संसार में किले की उपस्थिति

नहीं चाहते।चूकिं किले युद्धजन्य रक्तपात, असंख्य निर्दोष सैनिकों की निर्मम हत्याओं और राजाओं के आपसी स्वार्थलाभों के कारण होते हैं अतः नरेश सक्सेना इन किलों के अस्तित्व के खिलाफ हैं।'सीढ़ी' शीर्षक कविता में वे लिखते हैं-

'मुझे एक सीढ़ी की तलाश है
सीढ़ी दीवार पर चढ़ने के लिए नहीं
बल्कि नींव में उतरने के लिए
मैं किले को जीतना नहीं
उसे ध्वस्त कर देना चाहता हूं।'
(वही,पृष्ठ-४५)

आज की राजनीति बहुत बारीकी से अपना काम करती है। वह कत्ल भी कर देती है और सबूत भी नहीं छोड़ती।चुनावों के पहले उनके खयाली वायदों से ऐसा प्रतीत होता है कि धरती को सुंदर बनाने और सबके दुखों को दूर करने की जिम्मेदारी केवल उन्ही की है और वह उसे निभाने की लिए भी पूर्णतः प्रतिबद्ध हैं लेकिन चुनाव के बाद वे उतनी ही निर्ममता से अपना चरित्र परिवर्तन कर लेते हैं।उनके गुंडे सड़कों पर असलहे लेकर घूमते हैं और वे सदन में बैठकर 'शस्त्र विनियमन कानून' बनाते हैं।राजनीति के इसी दोमुहे चरित्र पर नरेश सक्सेना 'फूलों का रोना' नामक कविता में लिखते हैं-

'तोड़ लिए जाने के बाद भी
फूलों के चेहरे वैसे ही खिले थे
गुच्छे में कलियां खिली-खिली जा रही थीं
उन्हें अपने तोड़ लिए जाने के बारे में
कुछ पता नहीं था।'
(वही,पृष्ठ-७४)

इस प्रतीकार्थक कविता में अगर फूल की बात करें तो वह भारत की सुलझी हुई जनता है और माली प्रशासक और राजनिति के पुरोधा हैं।

धीरे-धीरे बढ़ते हुए समय के साथ पर्यावरणीय समस्याएं भी बढ़ती जा रही हैं और प्राकृतिक पर्यावरण निरंतर बिगड़ता जा रहा है।कॉप सम्मेलनों में केवल भाषण दिए जा रहे हैं और जमीन पर असल में कुछ भी होता हुआ दिखाई नहीं दे रहा।वैश्विक भू-तापन के कारण समुद्र जलस्तर लगातार बढ़ रहा है और द्वीपीय देशों के डूबने का खतरा बढ़ता जा रहा है।जलवायु परिवर्तन के कारण वन्य जीवों की विलुप्ति चरम स्तर पर है।पहाड़ों को काटकर बन रही फोरलेन सड़कों से पहाड़ी क्षेत्रों में भूस्खलन की घटनाएं व खतरा बढ़ा है।जोशीमठ की घटना हाल का इसका जीता-जागता उदाहारण है।तथाकथित विकास के नाम पर पर्यावरण में हो रहे इस तरह के अतिशय हस्तक्षेप घोर अप्राकृतिक हैं और मानव के साथ-साथ समस्त जीवों के लिए संकट पैदा वाले हैं।नदियों में बढ़ते अतिशय प्रदूषण के कारण नदियों का स्वरूप ही विलुप्त होता जा रहा है। दिल्ली जैसे महानगर में यमुना नदी को देखकर शायद ही कोई विश्वास करे कि यह नदी है।महानगरों में लगातार बड़े पैमाने पर हो रहे विनिर्माण कार्यों से वायु में पीएम-१० व पीएम-२.५ जैसे प्रदूषकों की मात्रा बढ़ने से वायु प्रदूषण का स्तर तो बढ़ ही रहा है,इसके साथ-साथ ह्रदय व फेफड़े से संबंधित विभिन्न बीमारियों का भी जनन हो रहा।

नरेश सक्सेना की कविता अपने आसपास और पर्यावरण के प्रति संजीदा है और अपने समकाल के पर्यावरणीय समस्याओं का गंभीरतापूर्वक संज्ञान लेती है।इनकी इसी विशेषता के बारे में महत्त्वपूर्ण समकालीन कवि 'एकांत श्रीवास्तव' ने लिखा है-

'प्रकृति का वे भरपूर रचनात्मक उपयोग अपनी कविता में करते हैं और इस तरह वे अपनी कविता के संसार को सूखाग्रस्त नहीं होने देते बल्कि कहना चाहिए कि प्रकृति व पर्यावरण सजगता इनकी कविता में जैसी दिखाई देती है, अन्यत्र प्रायः विरल ही दिखता है।'

जिस तरीके से लगातार वृक्षों का कटाव हो रहा उसके प्रति कवि संजीदा है और जिन भी माध्यमों से अपना न्यूनतम योगदान दे सकता है,उसके लिए तैयार

है।'एक वृक्ष भी बचा रहे' कविता में नरेश सक्सेना लिखते हैं-

'अंतिम समय जब कोई नहीं जाएगा साथ
एक वृक्ष जाएगा
अपनी गौरैयों गिलहरियों से बिछुड़कर
साथ जाएगा एक वृक्ष
अग्नि में प्रवेश करेगा वही मुझसे पहले..
लिखता हूं अंतिम इच्छाओं में कि
बिजली के दाहघर में हो मेरा संस्कार
ताकि मेरे बाद
एक बेटे और एक बेटी के साथ
एक वृक्ष भी बचा रहे संसार में।'

(वही,पृष्ठ-३५)

लगातार बढ़ती जनसंख्या के कारण विनिर्माण कार्यों की गति इस समय उच्चतम स्तर पर है।शहरी क्षेत्रों के साथ-साथ अब ग्रामीण क्षेत्रों में भी इस कारण वृक्षों को काटकर घर बनाने की परंपरा तेजी से चल निकली है।इसके प्रतिउत्तर में सरकार व प्रशासन द्वारा जो वृक्षारोपण हो भी रहा है है उसकी सततता भी संदिग्ध है। ज्यादातर वृक्षारोपण कार्यक्रमों का उद्देश्य केवल फोटो खींचकर अखबारों और सोशल मीडिया पर पोस्ट करने तक सीमित है और रोपण के बाद उनकी खोज-खबर लेने वाला कोई नहीं होता।यही कारण है कि ऐसे वृक्ष अधिकतर थोड़े समय बाद ही पर्याप्त पोषण और सिंचाई के अभाव में सूख जाते हैं। नरेश सक्सेना की कविता एक वृक्ष और उसके साथ-साथ गमन करते मानव जीवन पर सूक्ष्म पारखी दृष्टि रखती है।आंगन में मौजूद वृक्षों से किस तरह से मानवीय जीवन संबद्ध है और उसे पूर्णता प्रदान करता है,इस पर अपनी कविता 'उसे ले गये' में बारीकी से विचार करते हैं-

'अरे कोई देखो
मेरे आंगन में गिरा कट कर
गिरा मेरा नीम
गिरा मेरी सखियों का झूलना
बेटे का पालना गिरा..
उसे ले गये जैसे कोई ले जाता है लावारिस लाश
घसीटकर,उसे ले गये
ले गये आंगन की धूप-छांह सुबह-शाम
चिड़ियों का शोर,ले गये ऋतुएं
अब तक का संग-साथ सुख-दुख सब जीवन
ले गये।'

(वही, पृष्ठ-४२)

शिल्प की दृष्टि से भी देखें तो नरेश सक्सेना की बहुधा कविताएं प्रतीकार्थक हैं लेकिन ऐसा नहीं है कि मुख्यार्थ और प्रतीकार्थ में किसी का महत्त्व अधिक या कम है;न ही ऐसा प्रतीत होता है कि प्रतीरकार्थकता ही इनका अंतिम लक्ष्य हो।बल्कि दोनों का अपना-अपना महत्त्व इनकी कविताओं में दिखाई देता है।अपनी कविता के माध्यम से एक सजग द्रष्टा की तरह वे सामाजिक संरचना व उसके ताने-बाने पर सूक्ष्म दृष्टि रखते हैं और सहजता से अपनी बात कहने की कोशिश करते हैं और स्वभावतः वह बात प्रतीकार्थ में ढल जाती है।'समुद्र पर हो रही है बारिश' शीर्षक कविता में वे लिखते हैं-

'कैसे पुकारे
मीठे पानी में रहने वाली मछलियों को
प्यासों को क्या मुंह दिखाए
कहां जाकर डूब मरे
खुद अपने आप पर बरस रहा है समुद्र
समुद्र पर हो रही है बारिश।'

(वही, पृष्ठ-३२)

समुद्र अपनी व्यक्तिगत संरचना में विशाल व अंतहीन है।उसके पास दुनियाभर की आपूर्ति के लिए नमक है;लेकिन ऐसा बिलकुल नहीं है कि इतनी संपन्नता और विशालता के बावजूद उसके पास कोई दुख नहीं है।जैन दर्शन का अनेकांतवाद का सिद्धांत भी उपर्युक्त कविता में बखूबी प्रयुक्त दिखाई देता है।एक दृष्टि से जो चीज संपन्नता का कारण है,हो सकता है दूसरे दृष्टि से वही चीज विपन्नता का कारण भी हो।जैसे-समुद्र के खारे जल में मीठे पानी

की मछलियां नहीं आतीं,न ही वह किसी प्यासे की प्यास ही बुझा सकता है। समुद्र की इस रूप में असफलता भी उसके विशाल जल के कारण ही है।

उपर्युक्त कविता भले समुद्र के बारे में कही गई है लेकिन समुद्र के अलावा भी यह कई अन्य चीजों पर लागू होती है। मनुष्य के बारे में ही इस कविता को लागू करके देखें तो कहा जा सकता है कि एक मनुष्य सभी दृष्टियों से कभी भी सम्पूर्ण नहीं हो सकता बल्कि कितना भी वह सम्पूर्ण बनने की कोशिश कर ले लेकिन इस बीच कुछ न कुछ कमियां रह ही जाएंगी।एक दृष्टि से जो व्यक्ति संपन्न दिखेगा,दूसरी दृष्टि से वही विपन्न दिख सकता है। महत्त्वपूर्ण समकालीन कवि 'कुमार अंबुज' भी अपनी एक कविता में इसी तरह की बात करते हुए दिखाई देते हैं-

'यह ठीक है कि कई चीज़ों को मैं
उतनी देर ठिठक कर नहीं देख सका
जितनी देर तक के लिए वे एक मनुष्य से आशा करती थीं
कई अवसरों को भी मैंने खो दिया
मैं उम्मीद में गुनगुनाता आदमी था धनुर्धारी नहीं
मेरे पास जीवन एक ही था
और वह भी ग़लतियों,चूकों और नाकामियों से भरा
लेकिन उसी जीवन के भीतर से
आती थी कुछ करते रहने की आवाजें भी
कितना काम करना था कह नहीं सकता कितना कर पाया
इतना तो जरूर ही हुआ कि
मैं अपनी गलतियों से भी पहचान में आया।'
(अमीरी रेखा, पृष्ठ-१०)

नरेश सक्सेना की कविताओं की एक महती विशेषता यह भी है कि वे अन्तःअनुशासनात्मक पद्धति में एक दूसरे से जुड़ी हुई और बहुआयामी अर्थ व्यंजित करने वाली हैं।जब वह पर्यावरण की बात करते हैं तो उसमें राजनीतिक चेतना का समावेश अपने आप हो जाता है।इसका एक कारण यह भी है कि उदारीकरण के बाद समस्याओं का स्वरूप बहुत बदल गया है और वे आपस में बहुत घुल-मिल गई हैं।यहां यह भी उल्लेखनीय है कि अपनी कविता में यह सब चमत्कार करते हुए भी नरेश सक्सेना की कविताओं की शुरुआत एक बेहद सामान्य कथन से होती है और धीरे-धीरे वह अपने मुकाम तक पहुंचती है।'घास' कविता में वे लिखते हैं-

'वही जो घोड़ों की नसों में खून बनकर दौड़ती है
जो गाय के थनों में दूध बनकर फूटती है
वही
जो बिछी रहती है धरती पर
और कुचली जाती रहती है लगातार
कि अचानक एक दिन
महल की मीनारों व किले की दीवारों पर
शान से खड़ी हो जाती है
उन्हें ध्वस्त करने की शुरुआत करती हुई।'
(समुद्र पर हो रही है बारिश, पृष्ठ-३७)

उपर्युक्त कविता में घास के जीवन व कार्यों की विविध दृष्टि से मूल्यांकन किया गया है।वह मुलायम और धरातलीय है इसलिए कुचली भी जाती है, राजसत्ता के प्रतीक,किलों और मीनारों के ध्वंस की शुरुआत भी घासें ही करती है।यहां प्रतीक अर्थ में घासों को समाज के वंचित और कमजोर तबके का प्रतिनिधि भी माना जा सकता है।यह वर्ग भले कमजोर है और पूंजीपतियों के महत्वाकांक्षाओं के तले कुचला जा रहा हो लेकिन अगर एकजुट होकर यही वर्ग प्रतिरोध करने लगे तो उसकी शक्ति का कोई सानी नहीं है और राजसत्ता उसका मुकाबला करने में विफल हो जाएगी।

नरेश सक्सेना की कविताएं अपने समय के सभी परिप्रेक्ष्यों को संबोधित करती हुई अंततः जीवन और कला पर आकर अभिसरित हो जाती है।अपनी कविता में उन्हें आम मनुष्य से बहुत अधिक उम्मीदें हैं।जितने अधिक अच्छे इंसान हमारे यहां हो सकेंगे,उतनी सुंदर यह धरती

बन सकेगी।अपनी कविता में वे हर तरह के विमर्श के मुद्दों को छेड़ते हुए अंततः जीवन-राग अलापते हुए मौन हो जाते हैं।'पार' कविता के माध्यम से वे इसी तरह का जीवन-राग छेड़ते हुए दिखाई देते हैं-

'पुल पार करने से
पुल पार होता है
नदी पार नहीं होती।

नदी पार नहीं होती
नदी में धंसे बिना
नदी में धंसे बिना
पुल का अर्थ भी
समझ में नहीं आता।'

(वही, पृष्ठ-२८)

इसी तरह एक अन्य कविता 'जूते' में भी वे जीवन की बात करते हुए मनुष्य की अपनी व्यक्तिगत जीवन-यात्राओं को संबोधित करते हुए दिखाई दे रहे हैं-

'जिन्होने खुद नहीं की अपनी यात्राएं
दूसरों की यात्रा के ही साधन बने रहे
एक जूते का जीवन जिया जिन्होंने
यात्रा के बाद
उन्हें छोड़ दिया गया घर के बाहर।'

(वही, पृष्ठ-६२)

निष्कर्षतः, नरेश सक्सेना की कविताएं बहुत सरल और सहज हैं।वह अपने आसपास के बारे में हैं।ये कविताएं किसी बड़े रहस्य,मिथक या कथानक की आधारशिला पर खड़ी न होकर जीवन की सामान्य घटनाओं पर आधारित हैं।ये कविताएं इस रूप में भी सरल हैं कि जब इनमें विज्ञान और तकनीकी की बात होती है तो वह भी बेहद साधारण शैली में होती और आम जनमानस तक पहुंचती है।ये कविताएं हमारे बारे में हैं,आपके बारे में हैं।इन्हें पढ़ते हुए हम अपने जीवन के तार इनकी पंक्तियों से जोड़ पाते हैं। चर्चित उपन्यासकार मुंशी प्रेमचंद द्वारा अपने निबंध 'साहित्य का उद्देश्य' में गिनाये गये अच्छे साहित्य के मानकों पर भी ये कविताएं खरी उतरती हैं।मुंशी जी इस निबंध में एक जगह लिखते हैं-

'साहित्य उसी रचना को कहेंगे जिसमें कोई सच्चाई प्रकट की गई हो,जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित व सुंदर हो और जिसमें दिल व दिमाग पर असर डालने का गुण हो और साहित्य में वह गुण पूर्ण रूप में उसी अवस्था में उत्पन्न होता है,जब उसमें जीवन की सच्चाइयां और अनुभूतियां व्यक्त की गई हों।'

(निबंध निलय, संपादक-डॉ.सत्येन्द्र, पृष्ठ-११७)

नरेश जी की कविताएं जीवन की इन्हीं सच्चाइयों और अनुभूतियों के साथ खड़ी दिखाई देती हैं।

संदर्भ सूची-

१)समुद्र पर हो रही है बारिश,नरेश सक्सेना,२००१, राजकमल प्रकाशन

२)सुनो चारुशीला,नरेश सक्सेना,२०१२,भारतीय ज्ञानपीठ

३)कवि ने कहा, नरेश सक्सेना,२०१४,किताबघर प्रकाशन

४)अमीरी रेखा,कुमार अंबुज,२०११,राधाकृष्ण प्रकाशन

५)निबंध निलय, संपादक-डॉ सत्येन्द्र, सातवां संस्करण,२०२१,वाणी प्रकाशन

६)कविता के नये प्रतिमान,नामवर सिंह,१९६८, राजकमल प्रकाशन

७)हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास,बच्चन सिंह,१९९६, राधाकृष्ण प्रकाशन

जाम्भोजी के काव्य में पर्यावरण चिंतन

रॉक्सी

शोधार्थी
हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
मोबाइल नंबर-८५८८८६९१८२
ईमेल- roxykumari20@gmail.com

भूमिका

प्रस्तुत शोध पत्र में बिश्नोई संप्रदाय के संस्थापक जाम्भोजी के काव्य में वर्णित पर्यावरण चिंतन को दर्शाया गया है। आज भी बिश्नोई समाज पर्यावरण संरक्षण के प्रति कितना जागरूक और चिंतित है इस पर दृष्टि डाली गई है। पर्यावरण के संरक्षण के लिए अमृता देवी को मिलाकर ३६३ बिश्नोई समाज के लोगों के बलिदान को दर्शाया गया है। साथ ही बिश्नोई समाज वर्तमान समय में किस प्रकार अपने दायित्व को निभा रहा है इस पर प्रकाश डाला गया है।

प्रस्तुत शोध पत्र में पर्यावरण-प्रदूषण की समस्याओं व परिणाम को दर्शाया गया है। साथ ही पर्यावरण-प्रदूषण की समस्याओं के समाधान को बताने का पूर्ण प्रयास किया गया है।

शोध आलेख

'पर्यावरण'शब्द पस्थिआवरण इन दो शब्दों से मिलकर बना है। 'परि' का अर्थ है 'चारों तरफ' तथा'आवरण' का अर्थ है 'संरक्षक कवच'। पर्यावरण हमारा संरक्षक कवच है। इसे शुद्ध रखने से ही सभी जीवों का संरक्षण होता है परंतु आज के समय में पर्यावरण की समस्या दिनप्रतिदिन बढ़ती जा रही है। यही नहीं, पर्यावरण की समस्या आज पूरे विश्व के लिए एक बहुत बड़ी चुनौती बन गई है। इसके संबंध में आज पूरा विश्व चिंतित है और इस समस्या के समाधान के लिए प्रत्यनशील है। इस समस्या ने मानव जीवन के अस्तित्व को ही खतरे में डाल दिया है। अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए इस समस्या का समाधान बहुत आवश्यक है। इसी कारण विश्व के सभी देश इस समस्या पर विचार विमर्श कर रहे हैं और मुक्ति का रास्ता ढूँढ रहे हैं। पर्यावरण-प्रदूषण की समस्या का समाधान वृक्षों के माध्यम से हो सकता है। इसी बात को ध्यान में रखकर आज न केवल भारतवर्ष अपितु विश्व के अन्य देश भीबड़ी मात्रा में वृक्षारोपण कर रहे हैं।

आज, जब विश्व में पर्यावरण-प्रदूषण का खतरा बढ़ रहा है तो हमें पर्यावरण संरक्षण के प्रणेता गुरु जाम्भोजी की शिक्षा तथा बिश्नोई समाज द्वारा अन्य जीवों एवं वृक्ष-

रक्षा हेतु किये गये बलिदानों से प्रेरणा लेने की आवश्यकता है।

''ओउम् भवन भवन म्हें एका जोती,
चुन चुन लिया रतना मोती।''

गुरु जाम्भोजी ने अपने समय में बहुत भयंकर अकाल देखे थे। अकाल के कारण मनुष्य को बेघर होना पड़ता था और पशुधन की भी हानि होती थी। कई बार भयंकर अकाल के कारण मनुष्य को अपने प्राणों से भी हाथ धोने पड़ते थे। अकाल की भयंकरता को देखकर ही गुरु जाम्भोजी ने ऐसे उपाय किये थे, जिससे मनुष्य को अकाल का सामना न करना पड़े। अकाल की समाप्ति हेतु उन्होंने एक ओर वृक्षारोपण पर बल दिया तो दूसरी ओर हरे वृक्षों न काटने का नियम बनाया था। अकाल का स्थायी समाधान इन्हीं दोनों उपायों से हो सकता है। आज भी यदि हम इन उपायों को अपना लें तो अकाल जैसी भयंकर समस्या का सामना नहीं करना पड़ेगा।

जाम्भोजी के समय में अकाल की समस्या अवश्य थी पर आज की तरह पर्यावरण-प्रदूषण की कोई समस्या नहीं थी। फिर भी उन्होंने इस बात को अनुभव किया था कि मानव के विकास एवं अस्तित्व के लिए प्रकृति के विभिन्न आयामों में संतुलन रहना आवश्यक है।

प्रकृति के प्रमुख तीन घटक हैं- मनुष्य, वनस्पति एवं मानवेत्तर प्राणी। इन तीनों में मनुष्य अपनी रक्षा करने में स्वयं सक्षम है और अन्य दोनों की रक्षा मानव की इच्छा-शक्ति पर निर्भर है। मनुष्य का हित दोनों को सुरक्षित रखने में है। इन तीनों की सुरक्षा से प्रकृति के विभिन्न आयामों में संतुलन रह सकता है और पर्यावरण भी शुद्ध रह सकता है। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर गुरु जाम्भोजी ने अपने अनुयायियों को पर्यावरण संरक्षण हेतु मूल मंत्र दिया था- 'जीव दया पालणी अर रूंख लीलो नहीं घावै', अर्थात् जीवों पर दया करो तथा हरे वृक्ष मत काटो। गुरु जाम्भोजी ने अपनी सबदवाणी में हिंसा के विरोध में अनेक तर्क देकर जीव दया का समर्थन किया है। ईंधन के साथ विभिन्न जीवों के जलने से भी हिंसा होती है और प्रदूषण फैलता है, इसलिए गुरु जाम्भोजी ने ईंधन को भी अच्छी तरह झाड़ कर काम में लेने पर बल दिया है। गुरु जाम्भोजी द्वारा बताया गया यह नियम भी पर्यावरण को शुद्ध रखने में अत्यन्त सहायक है।

मनुष्य एवं वृक्ष का गहरा सम्बन्ध है। मनुष्य जन्म से लेकर मृत्यु तक वृक्षों पर निर्भर रहता है। उसके जीवन के सभी महत्वपूर्ण कार्य वृक्षों की सहायता से पूरे होते हैं। वृक्षों के बिना मनुष्य का जीवन अधूरा है। यहाँ तक कि वृक्षों के बिना मनुष्य का जीवित रहना भी कठिन है। वृक्षों के इसी महत्व को देखकर जाम्भोजी ने वृक्ष-प्रेम की भावना पर बल दिया। वृक्ष-प्रेम की भावना के प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से ही उन्होंने भ्रमण करते समय स्थान-स्थान पर खेजड़ी के वृक्ष लगाये थे। वृक्षों की रक्षा के उद्देश्यों से ही गुरु जाम्भोजी ने सबद वाणी में वृक्ष काटने का विरोध किया है।

जाम्भोजी ने वृक्ष-प्रेम की भावना का जो प्रचार-प्रसार किया था, उसका उनके अनुयायियों पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा था। वृक्ष-प्रेम की भावना के कारण ही लोग न तो स्वयं हरा वृक्ष काटते थे और न ही दूसरों को काटने देते थे। उनकी प्रेरणा का ही प्रतिफल है, जिसके फलस्वरूप कालांतर में वृक्षों को न काटने देने पर बिश्नोई समाज कीअमृता देवी के नेतृत्व में ३६३ लोगों ने वृक्ष की रक्षा हेतु प्राण तक दे दिये जो विश्व में मिसाल है। अमृता देवी कहती है- ''सिर सांटे रूख रहे तो भी सस्ता जाण'' अर्थात्-अपने सिर के बदले अगर वृक्ष की रक्षा होती है तो भी सस्ता सौदा समझ।

बिश्नोई समाज ने इसे अपने जीवन का आदर्श मान लिया था। इसी कारण वृक्षों की रक्षा के लिए प्राणों की आहुति देने वाली अनेक घटनाएं बिश्नोई इतिहास में देखी जा सकती हैं। वृक्षों की रक्षा हेतु प्राण न्यौछावर करने की प्रथम घटना जोधपुर राज्य के रामासड़ी गाँव की है। संवत्१६६१ में जेठ वदि दूज शनिवार को श्रीमती करमा एवं श्रीमती गौरा बिश्नोई ने खेजड़ी की रक्षा हेतु रामासड़ी गाँव

के चौराहे पर स्वेच्छा से अपने सिर सौंप दिये थे। उनके इस बलिदान को देखकर वृक्ष काटने वाले कांपउठे और तुरंत वृक्ष काटने बंद कर दिये। इस बलिदान से बहे रक्त के छींटे अभी सूख भी नहीं पाये थे कि तिलासणी गांव की श्रीमती सीवणी खोखर श्रीमोटा जी खोखर एवं श्रीमती नेतू नैण ने वृक्षों की रक्षा के लिए अपने प्राण दे दिये।

वृक्ष बचाने हेतु बिश्नोई समाज के लोगों का अपने प्राण न्यौछावर कर देना समाज को बहुत गहराई से प्रभावित कर गया। इसलिए लोग बिश्नोई गाँवों के आस-पास वृक्ष काटने से डरने लगे। इसी से जन साधारण ने बिश्नोई गाँवों के आस-पास वृक्ष काटने बंद कर दिये। परंतु शासक वर्ग अपने अहं के कारण बिश्नोई गाँवों के आस-पास वृक्ष काटने का असफल प्रयास करता रहा। यही कारण है कि तिलासणी बलिदान की चर्चा के शान्त होने से पूर्व ही संवत् १७०० में चैत्र वदि तीज को मेड़ता परगने के पोलवास गाँव के बूचो जी ऐयरा ने वृक्षों की रक्षा हेतु अपने प्राण न्यौछावर कर दिये।

वृक्ष की रक्षा के लिए प्राण न्यौछावर करने की एक विश्व प्रसिद्ध घटना 'खेजड़ली बलिदान' की है। यह घटना जोधपुर से २५ कि.मी. दूर खेजड़ली गाँव में घटित हुई थी। सम्भवतः १७८७ की भादो सुदि दशमी, मंगलवार को बिश्नोइयों के चौरासी गाँवों के ३६३ स्त्री, पुरुषों ने वृक्ष बचाने हेतु वृक्षों से चिपक कर अपने प्राण न्यौछावर कर दिये थे। इस बलिदान की सूचना जब राजा के पास पहुँची तो उन्होंने इसी दिन वृक्षों की कटाई रूकवा दी। इस घटना की समाप्ति भी इसी दिन हो गई थी।

आज के समय में मरुप्रदेश की तुलसी कही जाने वाली खेजड़ी, जो अभी तक सुरक्षित है, उसका श्रेय उन बिश्नोई शहीदों को है, जिन्होंने गुरु जाम्भोजी की शिक्षा से प्रेरित होकर इसकी रक्षा के लिए हँसते-हँसते अपने प्राण न्यौछावर कर दिये थे। त्रिकाल ज्ञाता गुरु जाम्भोजी ने खेजड़ी के महत्व को समझकर ही स्थान-स्थान पर खेजड़ी के वृक्ष लगाए थे। मरु प्रदेश के पर्यावरण संरक्षण में खेजड़ी का अत्यधिक योगदान है। इस तरह अपने जीवन का बलिदान देकर बिश्नोइयों ने पर्यावरण संरक्षण में जो योगदान दिया है उसका सारा श्रेय जाम्भोजी को जाता है।

जाम्भोजी के पर्यावरण विषयक गुण सम्पूर्ण पंच-महाभूतों की शुद्धता एवं संतुलन ही सृष्टि का शुद्ध पर्यावरण है। अर्थात् वायु, जल, आकाश, पृथ्वी एवं अग्निपाँचों की शुद्धता एवं साम्यता सम्पूर्ण सृष्टि के जीव जगत के अस्तित्व के लिए जरूरी है। प्राकृतिक संतुलन बनाए रखने के लिए वनस्पति का बचाव जरूरी है इसलिए वनस्पति को काटने के विरोध में जाम्भोजी कहते हैः-

''मोरौ धरती ध्यान वणासपति वासौ''

अर्थात् मैं धरती का ध्यान रखता हूँ। वह मेरे ध्यान में है और वनस्पति में मेरा वास है। इसलिए वनस्पति को कभी नहीं काटना चाहिए और विशेषकर कुछ विशिष्ट दिनों में तो उन्होंने बिल्कुल ही घाव न करने को कहा है-

''सोम अमावस आदितवारी,
काय काटी वणरायौ?

अर्थात् रात्रि में अमावस्या और रविवार को वनस्पति को क्यों काटा? जाम्भोजी ने जीव के सुकृत एवं वर्जित कृत्यों पर जीव से प्रश्न किया है।वृक्षों पर आघात करना, काटना और उसको किसी प्रकार का नुकसान पहुँचाना सर्वथा वर्जित कहा है। उनमें भी चेतन शक्ति है, वे सजीव है इसलिए हरे वृक्ष वनस्पति के प्रतीक है। अतः उनकी रक्षा करनी चाहिए।

जाम्भोजी की बहुआयामी दृष्टि वृक्षरक्षा, पर्यावरण रक्षा पर अनेक प्रकार से गई है। एक ओर उन्होंने सीधे-सीधे वृक्ष रक्षा की बात की है तो दूसरी ओर उन्होंनें वृक्षों में अपना वास बता दिया है। वह स्वयं को विराट (परमस्ता) रूप का बताते हुए वनस्पति में अपना निवास बताते हैं अर्थात् वनस्पति के प्रत्येक रूप (पेड़-पौधों, झाड़, घास, बेल आदि) में स्वयं को बताकर अपने अनुयायियों को हरे-भरे पेड़-पौधों औरलताओं के महत्व का बोध कराया है तथा परोक्ष रूप से उनकी रक्षा एवं पोषण का ही नहीं अपितु पूजा का दायित्व बोध भी कराया है। जाम्भोजी कहते हैः-

''हरी कंकहड़ी मंडप मैडी,
जहाँ हमारा वासा।
च्यारी चक नवदीप थरहरै,
जे आयौ परगासा''

इस सबद में जाम्भोजी ने प्रकृति, वनस्पति, पेड़-पौधों से अपने को इतना एकरस दिखाया एवं बताया है कि उनके समकालीन शिष्यों के लिए वृक्ष रक्षा एक धार्मिक अनुष्ठान हो गया। जिस वृक्ष के पास, जिस वृक्ष की उपस्थितिमें, जिस वृक्ष की छाया में किसी सम्प्रदाय के लोगों के प्रवर्तक का साया हो तो वह वृक्ष तो उनके लिए वैसे ही देवता और वृक्ष का स्थान तीर्थ हो जाता है। ऐसा विगत ५०० वर्षों से होता चला आ रहा है। आज भी बिश्नोई सम्प्रदाय के मंदिरों, धर्मशालाओं आदि में कंकहड़ी के वृक्ष मिलते हैं।

जाम्भोजी ने बिश्नोई सम्प्रदाय केअन्तर्गत २९ नियमों का पालन करने को कहा है जिनमें हरा वृक्ष न काटना, पानी एवं ईंधन का प्रयोग छान कर करना व जीव हत्या न करना आदि पर्यावरण चिंतन से संबंधित है। यह विचारधारा मात्र नियम या साहित्यिक नहीं वरन्एक व्यावहारिक क्रांति थी। किसी भी मुहिम के लिए समाज की नब्ज को टटोलना आवश्यक होता है। जाम्भोजी ने उसी को पकड़ा और एक अत्यंत महत्वपूर्ण तत्व् जिसका संबंध मानव के अस्तित्व से है, उसका सूत्रधार आस्था को बनाया। पानी और वाणी (अर्थात् शुद्ध बोलने) छानने अर्थात् शुद्ध करने पर बल देते हुए जाम्भोजी ने कहा है-

''ईंधन पाणीं वाणीं छाणहि।''
''जल छाणे दोय वारहि सांझ सबेर ही,
जीवाणी जल जोड़ कुवै जोय गेरही।''

अर्थात् दोनों समय जल छानना चाहिये और जल के जीवों को जोहड़ कुए में ही छोड़ देना चाहिए।

आगे जाम्भोजीवृक्ष न काटने पर बल देते कहते है-

जाल खेजड़ी और कंकेड़ो।
बड पीपल रूंखां नाहि छेड़ो।''

अर्थात् जाल, खेजड़ी, कंकहड़ी, किकर, बड़ पीपल के वृक्षों को नहीं काटना चाहिए (अर्थात् हरा वृक्ष न काटे)

इसी प्रकार जाम्भोजी जीव जंतुओं की रक्षा करने के लिए कहते है-

''जीव जन्तु की रच्छया करहै। रूखां बदलै जे कोई मरहै।
औरा तारै आपौ तरहै। जाका करज सारा सरहै।''

अर्थात् जो व्यक्ति जीव-जंतुओं की रक्षा करता है, रूंखों के बदले स्वयं का जीवन भी बलिदान कर देता है। वह स्वयं तो मोक्ष प्राप्त करता ही है साथ ही औरों को भी मुक्ति प्रदान करता है अर्थात् स्वयं के कल्याण के साथ-साथ जन-कल्याण की भी बात करता है।

जाम्भोजी के काव्य में कथनी-करनी की समानता पूर्णतः देखी जा सकती है। उन्होंने मात्र उपदेश ही नहीं दिये बल्कि स्वयं उसे क्रियान्वित भी किया है। उदाहरणार्थ, काबुल-मुलतान में जीव-हत्या बंद करवाना शीर्षक को लिया जा सकता है। इसमें काजी द्वारा की जा रही जीव-हत्या का प्रसंग है। इसी संदर्भ में जाम्भोजी के उपदेश को कलमबद्ध किया गया है-

''जीव न मारो नेकी गहों। गोस्त नांम भूल मत खैहों।''

अर्थात्जीवोंकीहत्यानकरो,जीव भी पर्यावरण का अहम हिस्सा है। ये भी पारिस्थितिकी का एक महत्वपूर्ण अंग हैं। प्रकृति के संतुलन को कायम रखने में इनका महत्वपूर्ण योगदान है।

निष्कर्ष-

हरे वृक्षों को काटना एक तरह से जीव हत्या करना है। वृक्ष के बिना हमारे जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। वर्षा को बुलाने वाले ये वृक्ष ही तो है। अगर हम निदय्ता पूर्वक वृक्षों की कटाई करते रहेंगे तो एक तरफ जहाँ मरुस्थल बढ़ता जायेगा, वहीं दूसरी तरफ प्राकृतिक विपदा बाढ़, अकाल इत्यादि की रोकथाम भी सम्भव नहीं हो पाएगी। इससे भूमि का उपजाऊ भाग कटाव स्वरूप बह

जायेगा। वृक्ष और मनुष्य का तो अब चोली-दामन का संबंध हो गया है।वनों से न केवल सूखी लकड़ी, गोंद, कत्था तथा अन्य औषधियाँ प्राप्त होती है, बल्कि वायु को सुरक्षित रखने और ऑक्सीजन उत्पादन में भी पेड़-पौधों की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका होती है। साथ ही पेड़-पौधे ध्वनि प्रदूषण को रोकने में भी सहायक होते हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

१. संपादक- डॉ. बनवारी लाल सहू- भगवद् रूप मीमांसा और गुरु जाम्भोजी, जम्भाणी साहित्य अकादमी प्रकाशन, राजस्थान, प्रथम संस्करण-२०१६

२. संपादकगण- डॉ. कृष्णलाल बिश्नोई, मांगीलाल बिश्नोई, 'अज्ञात' डॉ. सुरेन्द्र कुमार बिश्नोई- हिन्दी भक्ति काव्यधारा और जाम्भाणी साहित्य, जम्भाणी साहित्य अकादमी प्रकाशन, राजस्थान, प्रथम संस्करण-२०१५

३. संपादक मंडल- प्रो. मोहन, प्रो. कृष्ण कुमार कौशिक, डॉ. मनमोहन लटियाल- वर्तमान परिदृश्य में गुरु जाम्भोजी का चिंतन, जम्भाणी साहित्य अकादमी प्रकाशन, राजस्थान, प्रथम संस्करण-२०१९

४. संपादकगण- डॉ. सुरेन्द्र कुमार बिश्नोई राजकुमार सेवक - गुरु जाम्भोजी का वैश्विक चिंतन, जम्भाणी साहित्य अकादमी प्रकाशन, राजस्थान, प्रथम संस्करण-२०१३

५. संपादकगण- डॉ. सुरेन्द्र कुमार बिश्नोई, विनोद 'जंभदास' कड़वासरा - जांभाणी साहित्य साधक संत साहबराम, जम्भाणी साहित्य अकादमी प्रकाशन, राजस्थान, प्रथम संस्कृरण-२०१५

६. संपादक- डॉ. कृष्णलाल बिश्नोई- गुरु जाम्भोजी का जीवन दर्शन जम्भाणी साहित्य अकादमी प्रकाशन, राजस्थान, प्रथम संस्करण-२०१४

७. डॉ. वनवारी लाल सहू- पर्यावरण संरक्षण के प्रणेता गुरु जाम्भोजी, जम्भाणी साहित्य अकादमी प्रकाशन, राजस्थान, द्वितीय संस्करण-२०१३

८. संपादक- कृष्णनंद आचार्य- सबदवाणी, जम्भाणी साहित्य अकादमी प्रकाशन, राजस्थान, प्रथम संस्करण-२०२२

९. संपादक- डॉ. किशनराम बिश्नोई, निहाल सिंह जौहर- जम्भाणी (सबदवाणी मूल), गुरु जम्भेश्वर विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय प्रकाशन, हरियाणा प्रथम संस्करण-२००८

१०. संपादक- कृष्णनंद शास्त्री- जम्भसार (भाग-१): ऋषिकेश, स्वामी श्री ज्ञानप्रकाश जी, प्रथम संस्करण-१९८२

११. संपादक- कृष्णनंद शास्त्री- जम्भसार (भाग-२): ऋषिकेश, स्वामी श्री ज्ञानप्रकाश जी, प्रथम संस्करण-१९८२

१२. डॉ. कृष्णलाल बिश्नोई- गुरु जाम्भोजी की सबदवाणी एवं सनातन धर्म ग्रंथ, जम्भाणी साहित्य अकादमी प्रकाशन, राजस्थान, प्रथम संस्करण-२०१२

‘वे दिन’ उपन्यास में अभिव्यक्त अकेलापन और संत्रास

शाहीन

शोधार्थी
हिंदी विभाग
जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली
M.No. 7678391587
Email: shaheenkh70@gmail.com

हिंदी उपन्यास साहित्य की साठोत्तरी पीढ़ी के जिन उपन्यासकारों ने जीवन के यथार्थ का चित्रण मानव संबंधों की पुनर्व्याख्या नये तथा पुराने मूल्यों के टकराहट से उपजा संकट और आधुनिकता बोध की प्रस्तुति उपन्यासों में की है - उनमे उषा प्रियंवदा, मन्नू भंडारी, श्रीकांत वर्मा, राजेंद्र यादव, मोहन राकेश और निर्मल वर्मा के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । निर्मल वर्मा के उपन्यासों में पूर्व निर्धारित कथानक या स्थूल घटना का सहारा नहीं लिया गया है । उनके उपन्यासों में कुछ स्थितियां होती हैं, जिनमें वे परिवेश को देखते हैं, जिसमें वह मानवीय रिश्तों को परत-दर-परत खोलते जाते हैं ।

निर्मल वर्मा का यह उपन्यास चरित्र प्रधान की अपेक्षा परिवेश प्रधान अधिक दिखाई देता है । जिसको देशकाल और वातावरण से काटकर नहीं देखा जा सकता है । समाज और उसकी मानसिकता की परतों को उधेड़ने का प्रयास करने के साथ-साथ यह उपन्यास दूसरे विश्व युद्ध के बाद जो क्षणवाद की स्थिति हुई उस सत्य को रेखांकित करता है । अस्तित्त्ववादी टूल्स आधारित इस आलोच्य उपन्यास में व्यक्ति के अकेलेपन, यंत्रणा एवं आत्मविश्वास हीनता को अंकित किया गया है । इस मशीनीकरण युग में दिमाग के सुन्न हो जाने पर भी प्रेम के अंकुरित होने की संभावना रह जाती है । ‘वे दिन’ १९६४ यूरोप की महायुद्धोत्तर पीढ़ी के संत्रास, घुटन, शून्यता, मूल्यहीनता, अकेलापन, मृत्यु का आतंक और संबंधों की अर्थहीनता रेखांकित करने वाला उपन्यास है । उपन्यास के शीर्षक से ही यह पता चल जाता है कि उसका संबंध अतीत की घटनाओं से है, पात्रों के अतीत से हैं । यहां पात्रों का अतीत सुखद स्मृतियों से संबंध नहीं है बल्कि युद्ध के बाद की स्थिति से है । युद्ध की विभीषिका को याद करके प्रत्येक पात्र दहशत में है । ‘वे दिन’ जिनकी अब केवल यादें शेष है, वह लेखक अथवा मैं को परेशान करती है । ‘दरवाजे पर कोई दस्तक देता है तो उसका दिल धड़कने लगता है । अधीर- आग्रहपूर्ण आंसुओं से भीगी आवाज कानों में गूंजने लगती है- तुम विश्वास करते हो ? सच बताओ । वही एक आवाज । हर दिन इसी घड़ी में मुझे पकड़ लेती है । एक विवश आग्रह के साथ । लगता है उसके चले जाने के बाद भी वह आवाज पीछे छूट गई है जो उसे अंधेरे में पुकार रही थी अपने से अलग और संपूर्ण’१ ।

मैं को रायना का यह कथन बार-बार याद आता है, ‘सच- क्या तुम विश्वास नहीं करते ।’ रायना का कथन संशयग्रस्त मनः स्थिति को प्रकट करता है तथा पाठक में जिज्ञासा बढ़ाता है । उपन्यास की मूल संवेदना के संकेत लेखक ने उदासीन वातावरण की सृष्टि के द्वारा किए हैं ।

इस प्रकार उपन्यास के शुरू में ही तत्वबोध दिखने लगता है । यह उदासीन वातावरण अकेलेपन की नियति, चरित्र की जटिल परिस्थितियों का संकेत देती हैं । मैं, फ्रांज, रायना, टी.टी और मारिया के चरित्रों में यह अकेलेपन का बोध विभिन्न स्तरों में दिखाई देता है । मैं अथवा कथानायक व्यक्ति के अलगाव की बात बार-बार दोहराता है । रायना के चरित्र में अकेलेपन अपने स्तर का है । वह अपने पति से अलग हो चुकी है । पति से अलगाव को वह गंभीरता से नहीं लेती है, वह इसे सहज रुप में स्वीकार करती है क्योंकि अतीत से जुड़ना उसे अच्छा नहीं लगता । कथावाचक से प्रेम ही नहीं प्रत्येक प्रकार का दैहिक संबंध भी स्थापित करती हैं, इस सारे संबंध को वह वक्त काटने के लिए स्वीकार करती हैं ।

वे दिन के 'मैं' के चिंतन के जरिए लेखक ने रायना से उसके संबंध के खालीपन को स्पष्ट करते हुए व्यक्त किया है - 'पहली बार उसने मुस्कुराते हुए मेरा हाथ अपने हाथ में दबा लिया - पहली बार मुझे लगा, जैसे इस शाम तक हम दोनों के बीच जो रिश्ता था, वह अब नहीं है । वह बदल गया था, स्वतः और अनायास ।'२ उपन्यास में लेखक ने जिन प्रसंगों को दिखाया है वे ढाई दिनों की कालावधि है । इस अवधि में जो घटना घटित होती हैं उनके साथ अतीत की कुछ घटनाएं कलात्मकता के साथ लेखक ने चित्रित की है । चेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राग उपन्यास का कथा केंद्र है । उपन्यास का कथानायक 'मैं' एक भारतीय छात्र है जो अवकाश के दिनों में विदेशी टूरिस्टों के लिए दुभाषिये का काम करता है । वह तीन दिन रायना के साथ रहता है । 'मैं' और रायना के कथा प्रसंग के साथ-साथ फ्रांज और मारिया सम्बन्धी कथा प्रसंग भी उपन्यास में शुरू से आखिर तक चलता है । लेखक ने किसी एक प्रसंग को मुख्य बनाने की कोशिश नहीं की है । दोनों की कथा प्रसंग अपने-अपने स्तर पर व्यक्ति की मनः स्थिति को दर्शाते है । इनके अतिरिक्त टी.टी, छात्रावास के चौकीदार पीटर, रायना के पति जाक और मीता गौण चरित्र है जो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से कथा को आगे बढाते है । इस उपन्यास में चरित्र गुण और वहां का परिवेश मुख्य है । परंपरागत उपन्यासों की भांति कोई बंधी बंधाई कथा नहीं है । कथा विन्यास, चरित्र चित्रण और उपन्यासिक संरचना में लेखक ने परंपरागत को औपन्यासिक ढांचे को तोड़ा है । उपन्यास में प्रत्येक पात्र अकेलेपन की नियति को झेलने के लिए विवश है । स्लुबोनित्से, चियान्ति, कोन्याक, बियर आदि का सहारा लेकर अपनी नीरस और एकाकी जिंदगी की उब को दूर करते हैं । परिवेश से कटे ये चरित्र जैसे उद्देश्यहिन जिंदगी जी रहे हैं । लेखक ने पात्रों के बाहरी रूप को चित्रित करने की अपेक्षा आंतरिक रूप को चित्रित किया है ।

उपन्यास की कथा को लेखक ने पांच भागों में बांटा है । इस विभाजन का लक्ष्य कथात्मक विकास को दिखाना नहीं बल्कि संवेदना को गहनतम बनाना रहा है । मैं और रायना, फ्रांस और मारिया संबंधित कथासूत्र आज के इंसान की मजबूरी, संबंधों की रिक्तता, अलगाव की नियति को चित्रित करते हैं । रायना अपने पति के सम्बन्ध के बारे में कहती है - 'कोलोन में कभी हमने सोचा ही नहीं था हम जीवित रहेंगे । मरना तब बहुत पास था और आसान भी । हम शायद तब इसीलिए साथ रहने लगे थे - लड़ाई में बहुत लोग मरते है इसमें कुछ अजीब नहीं - लेकिन कुछ चीजें है जो लड़ाई के बाद मर जाती है - शान्ति के दिनों में हम उनमे से थे ।'३ रायना की मन स्थिति यह स्पष्ट करती है कि युद्ध के बाद 'प्रेम' जैसी चीज खत्म हो जाती है । इसलिए जाक और वह एक दूसरे से आत्मीय स्तर पर जुड़ नहीं सके । युद्ध से उपजी यह मानवीय त्रासदी है जिसे लेखक ने विभिन्न स्थानों पर सांकेतिक रूप में उभरा है । आतंक का भय और यौन संबंधों की विभिन्न स्थितियों को लेखक ने कलात्मक ढंग से जोड़ा है । जिससे उसकी संगति और विश्वसनीयता सामने आई है । रायना का यह निष्कर्ष की किसी चीज को पूरी तरह खोया ही नहीं जा सकता और न ही उसे

पूरी तरह पाया ही जा सकता है । आधुनिक संवेदना से संपन्न इस उपन्यास में जिसकी तलाश की गई है वह पश्चिमी परिवेश में अधिक प्रासंगिक कहीं जा सकती है । परिवेश से कटे हुए इन चरित्रों की यह स्थिति है कि विदेशी होने के नाते वे वहां अजनबी माने जाते हैं । पर अपने देश में भी उनकी गिनती अजनबियों के रूप में होती हैं । इस बेगानापन के बोध को प्रकट करते हुए टी.टी कहता है- 'हम ऐसे वर्षों में घर छोड़ चले आए थे, जब बचपन का सम्बन्ध उससे छुट जाता है और बड़प्पन का नया रिश्ता जुड़ नहीं पाता । अब घर बहुत अवास्तविक सा जान पड़ता था, जैसे वह किसी दूसरे की चीज हो ।'४ आज की पीढ़ी के दोहरे अजनबीपन की स्थिति के संकट को लेखक ने इन चरित्रों के माध्यम से व्यक्त किया है । सामाजिक मूल्यों के प्रति लेखक भले ही प्रतिबद्ध न हो किंतु विदेशी परिवेश की अंदरूनी सच्चाइयों को आधुनिक संदर्भ से जोड़ने में सफलता हासिल की है । डॉक्टर सुरेश सिन्हा का इस संदर्भ में कहना है - 'इसमें कोई संदेह नहीं कि आधुनिक संवेदना के तत्वों को इस उपन्यास में बड़ी सूक्ष्म संवेदनात्मक शक्ति के साथ दिखाया गया है । -- सिगरेट पीना, ठंड में आग सेकना, ये उसके लिए छोटे सुख थे - बड़ा सुख सांस लेना, सहज हवा में सांस ले सकता- इससे बड़ा सुख कोई नहीं है ।'५ उपन्यास में रायना, टी.टी, इंदी,जोक,फ्रांज -सभी सुख की तलाश करते हैं । किंतु किसी को सुख नहीं मिलता । 'रायना के जाते समय मैं (इंदी) उसे रोकना चाहता हूं पर उसे अपना आग्रह बेमानी सा लगता है । जब वह क्षण आता है जिसे हम अंतिम कहते हैं, तब वह अंतिम बिल्कुल नहीं लगता, जैसे कोई पुरानी पहचान सी घड़ी वापस लौट आई है ।'६ यह सुख की अस्तित्त्व व्याख्या है । यहां समस्या व्यक्ति के अस्तित्त्व की है । बच्चन सिंह का कहना है - 'पश्चिम के अर्थहीन परिवेश में जिस छोटे सुख की तलाश इस उपन्यास में की गई है, वह आज के संदर्भ में गैर मौजूद नहीं लगती । इसे रोमांटिक नहीं कहा जा सकता है क्योंकि तीन दिन के संपर्क में 'मैं' और रायना का शरीर सुख रोमांटिक अर्थ में प्रेम नहीं बल्कि रोमानी प्रेम से अलग प्रेम की आधुनिकतावादी परिकल्पना है । अंत में रहना के प्रति जो मोह उसमें उत्पन्न होता है, वह भावुकता न होकर 'मैं' का बचा हुआ मनुष्य है जिससे वह अलग हो गया है ।'७ फ्रांज, मारिया, रायना, मैं (इंदी) सभी परिवेश से कटे चरित्र है । परिवेश से कट कर न देश में रह पाते हैं और न विदेश में । परिमाणतः इसका चरम रूप उन्हें अपने शरीर से भी बाहर कर देता है । आधुनिकता की त्रासदी को उभारने के लिए नज़र का स्वस्थ होना जरूरी है ताकि चीजों को साफ और सही ढंग से अथवा सबसे बड़ी बात को समग्रता के साथ प्रस्तुत किया जा सके ।

निर्मल वर्मा जी की भाषा में बहुत धैर्य है । वे हर एक दृश्य या घटना को बड़ी ही सहजता और सूक्ष्मता से उसका वर्णन करते है । उपन्यास की मूल संवेदना पर प्रकाश डालने पर यह सवाल उठता है कि उपन्यासकार की दृष्टि रोमांटिक है या आधुनिक मार्क्सवादी, या अस्तित्त्ववादी है । लेकिन कुछ हद तक उपन्यास रोमांटिक श्रेणी में नही आता बल्कि यह उपन्यास एक साथ जीवन के बिखरे हुए अनुभव को व्यक्त करता है । निर्मल वर्मा की भाषा शैली में एक अनोखी कसावट है, जो किसी विचार- चित्र की गहनता को विविध उद्धरणों से रोचक बनाती हुई उस विषय का विस्तार करती है । शब्द- चयन में अधिक जटिलता ना होते हुए भी उनकी वाक्य- रचना में संयुक्त वाक्य की प्रधानता है ।जगह -जगह पर उन्होंने उर्दू और अंग्रेजी के शब्दों का स्वभाविक सटीक प्रयोग किया है । जिस से उनकी भाषा शैली में अनेक नवीन प्रयोगों की साफ झलक मिलती है । शब्दों की कैफियत और किफायत निर्मल वर्मा अच्छे से जानते थे । वर्णन करते समय उनकी भाषा वर्णनात्मक से ज्यादा वस्तु- विशेष की विशेषताओं को शब्दों की आविर्ति, लिपि से सूचित करती हैं। उनके वाक्य स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाते हैं। इसकी एक

बानगी यह है- 'वह आवाज है----- आवाज भी नहीं,------ हवा से भी पतली एक चमकीली झाई,ष्ठधीमे, बहुत धीमे एक उखड़ी, बहकी हुई सांस की मानिंद मेरे पास चली आती थी।'८ उनके कथा साहित्य में अंग्रेजी के वाक्यों का भी प्रयोग हुआ है जब पात्रों की मानसिकता को व्यक्त करते हैं- 'नॉट इवन फ़ॉर लव , पीस किल्ड इट ।'९ उपन्यास की भाषाई संरचना में भी एक प्रकार का संत्रास, दुःख दिखाई देता है।

निर्मल वर्मा की भाषा में व्यक्ति का एकांत छिपता नहीं, बल्कि दृश्य को और प्रत्यक्ष रूप से स्पष्ट करता है। कृष्णा सोबती के अनुसार- 'एक साथ जो भी कल ढेर सारी धूप, हवाए,चांदनी,रुई -सी बर्फ के टीले, फूलों के मुखड़े ऐसे आंक सके जैसे निर्मल ने आंके हैं,उन्हें स्वर और संज्ञा दे सके- यकीनन वह बड़ी कलम हैं।'१० उपन्यासकार ने 'वे दिन' उपन्यास में बिंबों और प्रकृति का चित्रण बहुत ही सुंदरता से किया है। इनके उपन्यास में सांकेतिकता का भी संजीव चित्रण मिलता है। उन्होंने इंदी और रायना के संबंध को रोमानी संकेत दे कर अपनी बात कह दी है- ' डूबने से पहले एक पल - स्मृति, सुख, पीड़ा , समय समय पर जो हमने संग भोगा था- जिसे आने वाले दिनों में अकेले भोगना थाष्ठबुझती हुई आग की आधी रोशनी मेंष्ठस्मृतिहीन।'११ उनके कथा साहित्य में शैली के अनेक प्रयोग जैसे कथानक ह्रास, चेतना प्रभाव, पूर्वदीप्ति, प्रतिकात्मक, बिंबात्मक, रिपोर्ताज आदि शैलियों का प्रयोग हुआ है।

अंततः 'वे दिन' आधुनिकता बोध की अभिव्यक्ति करने वाला सशक्त उपन्यास है, जिसके सभी पात्र अपने निजी विचार रखते है । वे समाज के प्रति प्रतिबद्ध न होकर स्वयं के प्रति प्रतिबद्ध है । जिस क्षण को वे जी रहे है वह उनकी नज़र में सच है । यह उपन्यास शताब्दी के टूटते हुए मूल्यों और परिवेश के स्वीकार के बिम्बों को ही कुरेदता नज़र आता है । निर्मल वर्मा अपने कथ्य और शिल्प दोनों स्तर पर बाकी लेखकों से अलग हैं जो उनके कथा साहित्य की एक विशेषता है।

संदर्भ

१. निर्मल वर्मा, वे दिन, पृष्ठ, ५०
२. निर्मल वर्मा, वे दिन, पृष्ठ, ८९
३. निर्मल वर्मा, वे दिन, पृष्ठ, १२५
४. निर्मल वर्मा, वे दिन, पृष्ठ,१३७
५. हिंदी उपन्यास, डॉ.सुरेश सिन्हा, पृष्ठ, ३५७
६. निर्मल वर्मा, वे दिन , पृष्ठ, ६७
७. डॉ नगेन्द्र (सं.) हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ, ६८७
८. निर्मल वर्मा, वे दिन, पृष्ठ, १३०
९. निर्मल वर्मा, वे दिन, पृष्ठ,१३९
१०. कृष्णा सोबती, हम हशमत , पृष्ठ, १३
११. निर्मल वर्मा, वे दिन, पृष्ठ,१५७

पटकथा की दृष्टि से 'पंचलाइट' फिल्म का अध्ययन

मतीन अहमद

शोधार्थी
हिंदी विभाग
जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नयी दिल्ली -२५
मेल. maateen@gmail.com

फिल्म निर्माण के पीछे जिस तत्व की भूमिका सबसे महत्वपूर्ण होती है, वह है फिल्म का कथानक। फिल्म की विधा मनोरंजनात्मक लक्ष्यों के साथ निर्मित की जाती है। यही कारण है की फिल्म कथानक में प्रायः ऐसे कथानकों का चयन किया जाता है जो मनोरंजन को केंद्र में रखकर लिखी गयी हो। हिंदी फिल्म उद्योग मनोरजन के इस लक्ष्य की पूर्ति हेतु बंधी बंधाई लीक पर चलने लगा, और यही कारण है कि हिंदी में फार्मूला फिल्मों का निर्माण सबसे अधिक हुआ है। साहित्य अथवा गम्भीर विषयों पर फिल्म बनाने का प्रयास किसी भी अन्य भाषा की तुलना में बहुत कम रहा है। इक़बाल रिजवी इस सन्दर्भ में लिखते हैं 'दरअसल हिंदी की साहित्यिक कृतियों पर सफल फिल्म ना बन पाने के कई कारण हैं। साहित्य लेखन अलग विधा है। कहानी या उपन्यास का सृजन एक नितांत व्यक्तिगत कर्म है। जबकि फिल्म लेखन में निर्देशक, अभिनेता अभिनेत्रियों यहां तक कि कैमरामैन को निर्देशक की दृष्टि पर निर्भर रहना पड़ता है। फिल्म एक लोक विधा है। साहित्य शिक्षतों की विधा है। फिल्म तो रामलीला और लोकनाट्य की तरह आम जनता तक अपनी बात पहुंचा दी है उसका उद्देश्य मनोरंजन है चाहे उसके दर्शक अनपढ़ हो या पढ़े लिखे।' फिल्म उद्योग के अंतर्गत कई ऐसे वर्गीकरण दिखाई देते हैं जो फिल्म निर्माण की धारा का विभाजन करते हुए दिखाई देते है, ऐसे में कला फिल्मों की श्रेणी में बहुत से ऐसे प्रयास दिखाई देते हैं जिनमें साहित्य अंतर्वस्तु को आधार बनाकर फिल्म रचना की गयी, किन्तु मुख्य धारा के मनोरंजनात्मक प्रयासों में यह न के बराबर ही कही जा सकती है और इसके पीछे यही कारण दिया जाता रहा है कि साहित्य की गम्भीर अंतर्वस्तु के साथ फिल्म उद्योग न्याय नहीं कर पता है।

फणीश्वर नाथ रेणु का कथा साहित्य मनोंरजन और साहित्य गम्भीरता के सम्मिश्रण के तौर पर प्रस्तुत होता है यही कारण है कि रेणु की कहानियों को फिल्म पटकथा में ढालना सरल प्रतीत होता है। रेणु के कथा साहित्य को आधार बनाकर फिल्म एवं टेलीविजन पर कई प्रयास किये गये, जिसमें सबसे उम्दा प्रयास तीसरी कसम के रूप में हमारे सामने हैं। किन्तु अभी हाल में आई फिल्म पंचलाइट इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेखनीय है। इस फिल्म में एक बहुत छोटी कहानी का विस्तार कर जिस तरह फिल्म के रूप में प्रस्तुत किया गया है वह साहित्य अंतवर्स्तु के फिल्म रूपांतरण का बढ़िया उदाहरण है।

फिल्म निर्माण की प्रक्रिया में, फिल्म का कथानक सबसे अधिक महत्वपूर्ण होता है। इस कहानी को फिल्म में ढालने के लिए कुछ बदलाव किये गये हैं। फिल्म का कथानक कहानी के समान ही चलता है किंतु जहां कहानी में ग्रामीण जातीय व्यवस्था को प्रस्तुत करने के साथ सामाजिक अंतर्विरोध को व्यंग्यात्मक ढंग से प्रकट करने की कोशिश रेणु ने की है वहीं फिल्म में भी जातीय अंतर्विरोध को दिखाने का प्रयास तो अवश्य है किंतु यहां पर प्रेम कहानी पर अधिक बल दिया गया है। इसका कारण यह भी है कि फिल्म के रूप में पटकथा को बनाने के लिए कहानी में आवश्यक विस्तार करना जरूरी था। फिल्म के शुरुआत में भी एक डिस्क्लेमर आता है जिसमें स्पष्ट किया गया है कि कहानी को आधार बनाकर पटकथा

लेखन के लिए कहानी में कहीं कहीं कुछ जोड़ एवं बदलाव किए गए है। कहानी एवं पटकथा लेखन अलग-अलग प्रक्रिया होती है और फिल्म में ढालने के लिए किसी भी कहानी को पटकथा के माध्यम से ही इच्छित माध्यम के रूप में प्राप्त किया जाता है। फिल्म की कहानी बिहार के ग्रामीण अंचल के सांस्कृतिक परिवेश के अंतर्गत बुनी गई है। कहानी में भी यही परिवेश, उक्त भूमि के तौर पर हमें दिखाई देता है। फिल्म जब शुरू होती है तो उस दृश्य को सबसे पहले दिखाया गया है जहां गांव में महतो टोले के पंच बाजार से पंचलैट खरीद कर लाए हैं। रास्ते में उन्हें दूसरी जातियों के कई लोग दिखाई देते हैं जिनके मोहल्लों में पहले से ही पंचलैट की सुविधा उपलब्ध है अतः वह जलन वश छींटाकशी करते हुए दिखाई देते हैं। कहानी भी ठीक इसी प्रकार शुरू होती है जहां पंचलाइट के आने के साथ गांव के अन्य मोहल्ले के व्यक्तियों द्वारा महतो समाज पर व्यंग्यात्मक टिप्पणी की जाती है। कहानी का अंश है- 'गांव के बाहर ही ब्राह्मण टोले के फुंटगी झा ने टोक दिया-कितने में लालटेन खरीद हुआ महतो?

देखते नहीं हैं, पंचलैट है! बामन टोली के लोग ऐसे ही ताब करते हैं। अपने घर की ढिबरी को भी बिजली-बत्ती कहेंगे और दूसरों के पंचलैट को लालटेन!

टोले-भर के लोग जमा हो गए। औरत-मर्द, बूढ़े-बच्चे सभी काम-काज छोड़कर दौड़े आए, चल रे चल! अपना पंचलैट आया है, पंचलैट!'

फिल्म में इसके पश्चात गोधन एवं मुनरी की कथा को विस्तार पूर्वक दिखाया गया है। जहां यह बताया गया है कि किस प्रकार गोधन अपने पिता का गांव छोड़कर अपने नानी के गांव आ जाता है और यहां पर अपने नानी के संपत्ति को प्राप्त करने के लिए उसे समाज के पंचों से बार-बार लड़ना पड़ता है। समाज के पंच गोधन को उसका अधिकार देने के पक्ष में नहीं है एवं गोधन अपना अधिकार लेने के लिए किसी भी प्रकार के अनुचित कार्य को नहीं करना चाहता। इससे नाराज होकर पंच उसे जाति से बहिष्कृत कर देते हैं और किसी भी प्रकार के सामाजिक कार्यों में उसके शामिल होने पर प्रतिबंध लगा देते हैं। वहीं वही दूसरी तरफ गुलरी काकी की बेटी मुनरी गोधन के प्रति आकर्षित है और अपने हृदय में गोधन के लिए भावनात्मक लगाव रखती है। इसलिए गांव वालों और मां के मना करने के बावजूद वह बार-बार गोधन से मिलती भी है और गोधन की सहायता भी करती है। फिल्म में दोनों की कहानी को आधार बनाकर ही मुख्य कहानी के लक्ष्य को प्राप्त किया गया है।

कहानी में मुनरी तथा गोधन का उल्लेख बहुत सीमित शब्दों में फणीश्वर नाथ रेणु ने किया है। वह कहानी में केवल कुछ पंक्तियों में जिक्र करते हैं कि जब समाज के लोग पेट्रोमैक्स को जलाने में सफल नहीं हो पाते तो वे अपने अपमान का कारण इस को मानते हैं। तब समाज की लड़की मुनरी यह सोचती है कि गोधन को इस काम के लिए बुलाया जा सकता है क्योंकि गोधन काफी समय तक शहर में रहा है और उसे पेट्रोमैक्स चलाना आता है। यहां से गोधन एवं मुनरी की संक्षिप्त प्रेम कहानी का परिचय कहानी में दिया गया है, जिसे आधार बनाकर एक प्रेम कथा के रूप में फिल्म इसे अपेक्षित विस्तार प्रदान किया गया है। जिस प्रकार कहानी में रेणु कहते हैं कि- 'गुलरी काकी की बेटी मुनरी के मुंह में बार-बार एक बात आकर मन में लौट जाती है। वह कैसे बोले? वह जानती है कि गोधन पंचलैट बालना जनता है। लेकिन, गोधन का हुक्का-पानी पंचायत से बंद है। मुनरी की मां ने पंचायत से फरियाद की थी कि गोधन रोज उसकी बेटी को देखकर सलम-सलम वाला सलीमा का गीत गाता है- 'हम तुमसे मोहोब्बत करके सलम! पंचों की निगाह पर गोधन बहुत दिन से चढ़ा हुआ था। दूसरे गांव से आकर बसा है गोधन और अब टोले के पंचों को पान-सुपारी खाने के लिए भी कुछ नहीं दिया। परवाह ही नहीं करता है। बस, पंचों को मौका मिला। दस रुपया जुरमाना! न देने से हुक्का-पानी बन्द। आज तक गोधन पंचायत से बाहर है। उससे कैसे कहा जाए! मुनरी उसका नाम कैसे ले? और उधर जाति का पानी उतर रहा है।' इसी प्रसंग को आधार बनाकर पटकथा में पूरी प्रेम कहानी के विस्तार को संयोजित किया गया है। हम समझ सकते हैं कि रेणु के लिए इतना विस्तार मुन्नी और गोधन की कहानी को देना इसलिए भी संभव नहीं था क्योंकि वे अपनी कहानी को ग्रामीण अंचल के जातीय व्यवस्था और उनके बीच में होने वाली अंतर्विरोधात्मक तकरार को प्रस्तुत करने का था ना की प्रेम कहानी को प्रस्तुत करने का। वहीं फिल्म इसे नये विस्तार देती है, 'वहीं अररिया के साहित्यकार सुशील श्रीवास्तव ने बताया कि दरअसल पंचलाइट का मतलब पेट्रोमैक्स होता है। इस कहानी में समाज में जातीयता भेदभाव पर कुठाराघात किया गया है। इसके माध्यम से समाज की विभक्तियों को खूबसूरती से वर्णित किया गया है।' इसलिए रेणु संक्षेप में ही कहानी के मुख्य नायक का परिचय एवं उसका संबंधित स्थिति को

लक्ष्यार्थ रूप में स्पष्ट करते हैं। नायक की महत्वपूर्ण भूमिका को उभारने के लिए रेणु के लिए इतना वर्णन उपयुक्त था। फिल्म इसी को केंद्र में रखकर विकसित होती है, इस प्रकार हम देख सकते हैं कि फिल्म को मनोंरजन की दृष्टि से उपयुक्त बनाने के लिए कहानी के इस केंद्र पर फ़िल्मकार ने अधिक बल दिया है।

फिल्म में पूरी कथा फ्लैशबैक में चलती है और विस्तार से सभी संदर्भों को मुनरी तथा गोधन के परिप्रेक्ष्य में ही स्पष्ट किया जाता है। कहानी एवं सिनेमा सबसे बड़ा अंतर है की कहानी में जहां ग्रामीण अंचल की जातीय व्यवस्था एवं उसकी सामाजिक संरचना को नायक की तरह प्रस्तुत किया गया है वहीं फिल्म में अपने माध्यम की प्रस्तुति की सुविधा के कारण नायक और नायिका के तौर पर मुनरी और गोधन को उभारा गया है। अन्य कलाकारों को सहायक कलाकार के तौर पर प्रस्तुत करते हुए कहानी के मूल अर्थ को प्राप्त करने की कोशिश की गई है। अगर दर्शक पहले फिल्म देखता है और बाद में कहानी पढता है तो वह इस अंतर को अधिक बेहतर समझ पाएगा क्योंकि कहानी में कहीं भी प्रेम कहानी को अधिक महत्व नहीं दिया गया है बल्कि सामान्य जीवन में किस तरह से युवा लोगों को सामाजिक प्रतिबंधों का सामना करना पड़ता है एवं युवाओं को कैसे उनके व्यवहार एवं परिवर्तन के लिए दंडित किया जाता है इस पर कहानीकार का बल रहा है किन्तु फिल्मकार इस दृष्टिकोण से मुनरी और गोधन की कहानी को नहीं दिखाता बल्कि एक प्रेम कथा के रूप में ही इस कहानी को प्रस्तुत करता है। जाति व्यवस्था और संस्कृति के अंतर्विरोध को फिल्म अंतिम आधे घंटे में प्रस्तुत करने का कार्य करती है। यहाँ भी गोधन समाज के काम आया तो उसे सामान्य बॉलीवुड फिल्म के हीरो की तरह ही पेश किया जाता है। फिल्म पटकथा में सामान्य प्रेम कथा के सामान ही गोधन को हीरो बनाने की कोशिश की गई है, जो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी सफलता के झंडे गाड़ता हुआ दिखाई देता है। स्पष्ट रूप से यहां पर भी हिंदी फिल्म की ट्रेडिशनल ट्रीटमेंट को हम देख सकते हैं जहां नायक कहानी पर कई बार भारी पड़ने लगता है। इस फिल्म की अपनी सीमाएं हैं जिससे हम इंकार नहीं कर सकते। तीसरी कसम फिल्म से अगर हम इस फिल्म की तुलना करें तो यह व्यर्थ होगा क्योंकि तीसरी कसम में कहीं भी कहानी का विस्तार नहीं किया गया अथवा कहानी का नायक हीरो में बदलता हुआ नहीं दिखाई देता बल्कि कहानी उसी रूप में व्यक्त होती है जिस रूप में रेणु ने अपनी अभिव्यक्ति में उसे प्रस्तुत किया था। किंतु पंचलाइट फिल्म की प्रस्तुति में बहुत कुछ परिवर्तित हो जाता है। साहित्यिक कहानी का मुख्य हिस्सा शुरुआत के २० मिनट और अंत के ४० मिनट में सिमटा हुआ है बाकी जो विस्तार हमें फिल्म में दिखाई देता है वह उसे पूर्ण को प्रेम कहानी के तौर पर प्रस्तुत करने की कोशिश के रूप में ही सामने आता है। इस तरह पटकथा रूपांतरण के रूप में जब इस फिल्म का हम अध्ययन करते हैं तो कहानी के केन्द्रीय तत्व में परिवर्तन देखते हैं जो दृश्य श्रव्य माध्यम के रूप में आकर्षक बनाने के लिए आवश्यक भी है, 'साहित्यिक कृतियों पर फिल्म बनाने के पीछे पहली शर्त है निर्माता-निर्देशक का रचना के मर्म तक पहुंचने के साथ ही साहित्यकार के मानसिक बुनावट को भी समझना। बाजारवाद, तकनीकी विकास, उदारवाद का व्यापक और स्पष्ट प्रभाव हिंदी सिनेमा पर देखा जा सकता है।' पंचलाइट फिल्म की कसौटी पर साहित्यिक कृति को बेहतरीन ढंग से ढालने का प्रयास माना जा सकता है जिसमें आधुनिक फिल्म मानकों को सुगमता से समाहित किया गया है।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं की फिल्म निर्माण की दृष्टि से 'पंचलाइट' पटकथा के स्तर पर कथा को फिल्म में ढालने का उल्लेखनीय प्रयास है। कथानक के माध्यम से ही फिल्म को फिल्मांकित किया जाता है । पटकथा के रूप में ढल जाने के बाद साहित्यिक कृतियों को पर्दे पर उतारना सरल हो जाता है। इस फिल्म में इस स्तर पर बिना कथा में छेड़छाड़ किये हुए पटकथा को तैयार किया गया है, जोकि साहित्यिक गम्भीरता को भी बनाये रखता है तथा फिल्म के स्तर पर मनोरंजक प्रस्तुति सम्भव हो पाती है । साहित्यकारों को फिल्म माध्यम से यही शिकयत रही है की वह साहित्य संवेदना को फिल्म प्रस्तुतियों में खो देते है है, इस कड़ी में यह फिल्म साहित्य कृतियों के फिल्म रूपान्तर के सन्दर्भ में एक बेहतरीन प्रयास बनकर सामने आता है ।

भिखारी ठाकुर का लोकसाहित्य और सामाजिक सरोकार

अनूप कुमार

शोधार्थी, हिन्दी साहित्य
हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग
इलाहाबाद विश्विद्यालय, प्रयागराज-उत्तर प्रदेश
ई-मेर्ल.हल्९६९९४०ढ्र्ुस्मत.म्दस्
संपर्क-९३५४९५७५६२

किसी भी समाज की संस्कृति को समझने के लिए उसके लोक साहित्य का अध्ययन करना आवश्यक है। लोक की जीवंत अभिव्यक्ति लोकगीतों, लोकनाटकों और लोककथाओं में देखने को मिलती है । लोक जीवन के विविध पहलू चाहे वह पर्व-त्यौहार हो या जीवन की आशा-निराशा सभी की अभिव्यक्ति लोकभाषा के माध्यम से लोकसाहित्य में देखने को मिलती है । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लोक शब्द की व्यापकता को स्वीकार करते हुए लिखते हैं- 'लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम नहीं बल्कि गाँवों और नगरों में फैली हुई समूची जनता है,जिनके व्यवहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं है ।'१

डॉ.सतेन्द्र के अनुसार- 'लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है, जो अभिजात्य संस्कार शास्त्रीयता और पांडित्य चेतना के अहंकार से शून्य है जो एक परम्परा के प्रभाव में जीवित रहता है ।'२ अर्थात् लोक का अभिप्राय उस समुदाय से है जो महानगरीय जीवन की कृत्रिमता से से दूर प्रकृति के गोद में अपना जीवन व्यतीत करता है और परम्परा से प्राप्त संस्कारों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तांतरित करता रहता है । इसी लोक-जन की आत्माभिव्यक्ति का नाम लोकसाहित्य है, जिसमें विविध अवसरों पर गाये जाने वाले लोकगीत, लोकनाटक और लोककथा आदि शामिल है ।

भिखारी ठाकुर भोजपुरी संस्कृति के अग्रदूत, भोजपुरी भाषा के संवाहक और निम्न मध्य वर्गीय समाज की चेतना को आवाज़ देने वाले एक महान लोक कलाकार थे । भिखारी ठाकुर का जन्म ऐसे समय में हुआ जब देश ब्रिटिश सत्ता का गुलाम था और समाज में सामंतवादी व्यवस्था अपने चरम पर थी । भिखारी ठाकुर का जन्म समाज के जाति व्यवस्था में पिछड़े वर्ग के अंतर्गत नाई जाति में हुआ था । समाज में जातिप्रथा, विधवा-विवाह, अनमेल विवाह और नशाखोरी आदि जैसी सामाजिक कुरीतियाँ व्याप्त थी । स्वतंत्रता के पश्चात् देश में संविधान का निर्माण हुआ जिसमें जाति, धर्म, लिंग के आधार पर भेदभाव को समाप्त कर दिया गया किन्तु सामजिक रूप से आज तक आसमानता बनी हुई है । भिखारी ठाकुर लोक कलाकार की दृष्टि से एक लोकप्रिय कलाकार थे किन्तु नाई जाति में जन्म लेने के कारण हेमशा उन्हें जाति का दंश झेलना पड़ा । जाति संबंधित भेदभाव का उन्हें कई बार सामना करना पड़ा । ऐसे ही एक उनके बचपन की घटना है जब वह पाठशाला में पढ़ने जाते तो कक्षा के सवर्ण जाति के लड़कों द्वारा उनकी जाति को लेकर अभद्र टिप्पणियाँ किया जाता - 'नउवा...? ई हो पढ़ेगा ? पढ़-लिख के तें का करेगा रे...हजामत के बनाई ? नहरनी ले ले बाड़े रे, तनी नह काट दे ।'३ जैसे की शिक्षा किसी विशेष जाति की जागीर हो गई हो कि सवर्ण लोग ही शिक्षा प्राप्त करने के अधिकारी हैं और शेष दलित या पिछड़ी जाति के लोग अपनी पीढ़ी दर पीढ़ी से चली आ रही सवर्णों की सेवा करना ही एक मात्र कार्य रह गया हो ।

भारतीय परम्परा में गुरु को ईश्वर तुल्य माना गया है । किन्तु भिखारी ठाकुर के साथ जाति यहाँ भी पीछा नहीं छोड़ती और गुरूजी भी एक पिछड़ी जाति के लड़के का शोषण करते है और पढ़ाने की जगह अपना पैर दबवाने में ही अपना गुरु कर्म समझते है । इस तरह जाति को लेकर भिखारी ठाकुर का अनुभव बहुत ही कटु और पीड़ादायक थे । यही कारण है कि जब भिखारी ठाकुर ने लोकनाटकों की रचना की तो उनके समक्ष गाँव के वहीं दलित, आशिक्षित जनता थी जो वर्षों से सामंतवादी व्यवस्था की गुलामी का शिकार थी । भिखारी ठाकुर के नाटकों की विषय वस्तु इन्हीं आम लोगों के जीवन में घटित होने वाली घटनाये थी रोजमर्रा की जिन्दगी में घटित होती रहती थी ।

जाति आधारित भेदभाव से संबंधित भिखारी ठाकुर के

जीवन से जुड़ी एक और घटना है जो उनके बचपन से संबंधित है । एक बार गाँव में बहुत ही भारी यज्ञ हो रहा था जिसमें, अयोध्या, दरभंगा, पटना, देवघर के बड़े-बड़े ब्राह्मण आये हुए थे । भिखारी ठाकुर के पिता दलसिंगार ठाकुर और भिखारी ठाकुर ब्राह्मणों की सेवा में तन-मन से लगे हुए थे । कोई पैर दबा रहा था तो कोई स्नान करवा रहा था । भिखारी ठाकुर के गौर वर्ण के कारण उन्हें ब्राह्मण समझ कर एक ब्राह्मण ने उन्हें यज्ञशाला को सजाने का लिए कार्य सोंप दिया । जब एक अन्य ब्राह्मण को पता चला कि यह नाई जाति का है तो भिखारी ठाकुर को बहुत अपमानित किया और उनके सामने ही यज्ञशाला को गंगाजल से शुद्ध करवाया । भिखारी ठाकुर के ये कटु अनुभव उनके लोकसाहित्य में भी देखा जा सकता है । तमाम भेदभाव के बाद भी भिखारी ठाकुर ने हार नहीं मानी और हर कटु अनुभव को उन्होंने अपनी कलम की धार से उसे सर्जनात्मकता में परिवर्तित किया । भिखारी ठाकुर के संबंध में संजीव अपने उपन्यास 'सूत्रधार' जो की भिखारी ठाकुर के जीवन पर आधारित है उसमें लिखते है- 'जातिगत दमन और द्वेष का शिकार होते हुए भी तमाम हीनताओं और न्यूनताओ को मुंह चिढ़ाते हुए आगे बढ़ता कलाकार ।'४

भिखारी ठाकुर का अनुभव भोगे हुए हुआ यथार्थ पर आधारित था यही कारण है कि उनके लोकसाहित्य में सामाजिक कुरीतियों का बहुत ही मार्मिकता से चित्रण हुआ है । भिखारी ठाकुर अपने लोकसाहित्य में बड़ी ही सूक्ष्मता से दलितों और स्त्रियों की समस्याओं को उठाया है । भिखारी ठाकुर का लोकप्रियता का प्रमुख आधार उनके द्वारा रचित 'बिदेसिया' लोकनाटक है जिसमें एक ऐसी स्त्री की वियोग का चित्रण हुआ है, जिसका पति उसे घर में अकेला छोड़कर पैसा कमाने के लिए कलकत्ता चला जाता है और वहीं एक वेश्या के साथ रहने लहता है । एक अकेली पतिवृता स्त्री के वियोग का चित्रण करते हुए भिखारी ठाकुर लिखते है -

'पिया मोर गइलन परदेस, ए बटोही भइया
रात नहीं नींद दिन तनी ना चएनवाँ, ए बटोही भइया
सहतानी बहुते कलेस, ए बटोही भइया'५

एक स्त्री जिसका पति ही एकमात्र सहारा है वह भी उसे छोड़कर चला गया है । भिखारी ठाकुर ने अपने इस नाटक में स्त्री मन की पीड़ा को बहुत ही मार्मिक रूप से अभिव्यक्त किया है ।

अनमेल विवाह या वृद्ध विवाह समाज की एक कुप्रथा रही है । भिखारी ठाकुर अपने नाटक 'बेटी-वियोग' में इस सामाजिक कुरीति का पर्दाफाश करते है । ग्रामीण क्षेत्रों में बहुत से ऐसे गरीब किसान थे जो इतने अधिक गरीब थे कि उनके पास अपनी बेटी के विवाह करने के लिए पैसे नहीं होते थे । इन किसानों की आर्थिक स्थिति इतनी दयनीय थी कि वह अपने गिरवी रखे खेतों को साहूकारों से छुड़ा नही पाते थे और मज़बूरी में अपनी बेटी का विवाह इन जमीदारों और साहूकारों से कर देते थे । सवर्ण जातियों में बहुत से ऐसे पुरुष थे जिनकी उम्र वृद्धा अवस्था को प्राप्त हो चूँकि होती थी, किन्तु उनका विवाह नहीं हो पाता था । ऐसे लोग अपनी वंश परम्परा को आगे बढ़ाने के लिए गरीब परिवार की लड़कियों को जो की उम्र में उन से बहुत छोटी होती थी उन से विवाह करने के लिए लड़की वालों को पैसे देते थे ।
इसी समाजिक कुरीति के आधार पर भिखारी ठाकुर ने बेटी-वियोग नाटक की रचना की जिसमें बेटी अपने पिता से कहती है -

'रोपेया गिनाइ लिहल-अ, पगहा धराइ दिहल-अ
चेरिया के छेरिया बनवल-अ हो बाबू जी'६

यहाँ बेटी अपनी तुलना जानवर से कर रही है कि जिस प्रकार गाय को बेचकर उसका पगहा (रस्सी) उसके मालिक को पकड़ा दिया जाता है, उसी प्रकार स्त्री के जीवन रूपी पगहे को उस से विवाह करने वाले उसके मालिक को थमा दिया जाता है ।स्त्री को अपने जीवन में कोई निणय लेने का अधिकार नहीं है । पिता जिसके हाथ उसके जीवन रूपी पगहे को थमा दे उसी के साथ पूरा जीवन व्यतीत करना होता है । संजीव अपने उपन्यास सूत्रधार में लिखते है-'एक बबुनी, दूसरी बबुनी, तीसरी बबुनी..बेटियों का अनंत क्रम ! वीर-बहुटियों-सी रेंग रही है बेटियाँ, बिहार, यू पी, बंगाल, में बेची जा रहीं है बेटियाँ खूसट बूढों के हाथ । हलाल की जा रहीं है बेटियाँ और उनकी रुलाई को मंतर और गीत और गारी और चुहुल से ढँका जा रहा है ।'७ भिखारी ठाकुर ने अपने इस नाटक के माध्यम से वर्तमान समय में के स्त्रीवादी मुद्दे को भी उठाया है । किस प्रकार महिलाओं का शोषण तेजी से हो रहा है ।

भारतीय संस्कृति में परिवार एक सामाजिक इकाई है । व्यक्ति से परिवार, परिवार से समाज और समाज से राष्ट्र का निर्माण होता है । परिवार की नीवं सामूहिकता पर आधारित होती है । आदिम मनुष्य का सामाजिक स्वरूप भी कबीलों का था जो समूहों में एक साथ मिलकर रहते थे । भारतीय समाज विशेषकर ग्रामीण समाज में हमें सयुंक्त परिवार का स्वरूप देखने को मिलता है जो कि भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है । इस सदी की मुख्य घटनाओं में सयुंक्त परिवार का विघटन भी प्रमुख सामजिक घटना है । बीतें कुछ दशकों में शहर हो या गाँव दोनों ही जगह सयुंक्त परिवार का विघटन हमें तेजी से देखने को मिलते है । भाई-भाई में कभी इतना अधिक प्रेम था कि कहा जाता था भाई हो तो राम-लक्ष्मण जैसा हमेशा जब भी भाई की उपमा दी जाती थी तो भारत या लक्ष्मण की दी जाती थी किन्तु आज भाई-भाई का दुशमन हो गया है । प्रेम की जगह नफरत ने ले लिया है ।

समाज में यदि कोई सयुंक्त परिवार खुशहाल दिखता भी है तो समाज का कोई ना कोई व्यक्ति उसे तोड़ने की कोशिश अवश्य करता है । भिखारी ठाकुर एक दूरदर्शी कलाकार थे । अपने समकालीन समस्याओं को अपने नाटकों के माध्यम से समाज को जो आइना दिखाने का कार्य किया है वह आज भी प्रासंगिकता की दृष्टि से महत्वपूर्ण है । सयुंक्त परिवार के विघटन पर भिखारी ठाकुर ने एक नाटक लिखा 'भाई-विरोध' । यह नाटक समाज की यथार्थ स्थिति को अभिव्यक्त करता है कि किस प्रकार एक परिवार में तीन भाई है और बहुत ही प्रेमपूर्वक एक साथ सयुंक्त रूप से रहते थे किन्तु एक कुटिल बुढ़िया से इन भाइयों का आपस में प्रेम देखा नहीं गया और उसने उनकी पत्नियों को भड़का कर भाइयों में झगड़ा लगा दिया । भिखारी ठाकुर लिखते है-

'कुटनी आके, लहरा लगाके, कइली डबल कमाई
झगरा होखत बा गोतिनी में, भाई में होखत लड़ाई।'८

भारतीय परिवारों में अक्सर ऐसा देखा गया है कि विवाह से पूर्व सभी भाई आपस में एक साथ रहते है । किन्तु जैसे ही उनका विवाह हो जाता है वह परिवार से अलग होना चाहते है । वह सयुंक्त परिवार में रहना पसंद नहीं करते है । इसका सबसे बड़ा कारण है स्वार्थपरकता व्यक्ति सोचता है कि दो प्राणी पति-पत्नी अकेले आनंद से जीवन व्यतीत करेंगे उन्हें यह नहीं पता कि जो शाखाएँ पेड़ से अलग हो जाती है वह अधिक दिनों तक हरा-भरा नहीं रह सकती । उसी प्रकार जो भाई या पुत्र अपने परिवार से अलग होना ही जीवन का सुख समझते है यह उनकी सबसे बड़ी भूल है वह अधिक दिन तक सुखी नहीं रह सकते । किसी के बहकावे में आकार अपने परिवार के विरुद्ध जो जाता है उसका अंत बुरा ही होता है । समाज में ऐसे बहुत से कुटिल लोग मिलेंगे जो घरों को जोड़ने से अधिक तोड़ने में विश्वास करते है ऐसे लोगों से सतर्क रहने की आवश्यकता है ।

निष्कर्ष-

अंतः यह कहा जा सकता है कि भिखारी ठाकुर का लोकसाहित्य मात्र आम-जन का मनोरंजन ही नहीं करता अपितु मनोरंजन के साथ समाज में व्याप्त कुरूतियों के विरुद्ध आवाज़ उठाकर लोक चेतना के विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान भी देता है । भिखारी ठाकुर शोषित, पिछड़ो के रचनाकार है उनके साहित्य में दलित, स्त्री और सामाजिक रूप से पिछड़े हुए लोगों की मुखर अभिव्यक्ति देखने को मिलती है । एक बार किसी ने भिखारी ठाकुर से पूछा कि इतने महान लोग है उसके बाद भी आप उन पर कुछ क्यों नहीं लिखते केवल आमजन पर ही नाटक लिखतें है ऐसा क्यों ? भिखारी ठाकुर का मानना है कि - 'मै कुँवर सिंह से ज्यादा रामानन्द सिंह को जानता हूँ, मंगल पांडे से ज्यादा साधू गोसाईं को, मोरध्वज दंपति से ज्यादा अपने मुझे धोबइन भौजी और भइया लागतें है । दधीचि से ज्यादा प्यारे मुझे अपने गाँव-जवार के जीवित लोग लगते है, बाभन राजपूत से लेकर चमार, दुसाध तक सभी । बड़े लोगों की बड़ी बात-उनकी महानता की दास्तान विद्वान, पंडित, ज्ञानी लोग लिखेंगे । देश-दुनिया के बारे में बड़का-बड़का नेता गान्ही बाबा, जयप्रकाशजी, राजेन्द्र बाबू सोचेंगे, मुझे तो दुखों से छलनी हो आए, मुँह दूबर लोगों के बारे में सोचने दो, जिन्हें मै जन्म से देखता रहा हूँ,चीन्हता रहा हूँ ।'९

भिखारी ठाकुर लोक-चेतना के साहित्यकार है । उनका सम्पूर्ण साहित्य लोक को ही समर्पित है । जो उन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन में भोगा उसी की यथार्थ अभिव्यक्ति उनके साहित्य में देखने को मिलती है । भिखारी ठाकुर के समक्ष लिखने के लिए तमाम विषय थे उसके बाद भी उन्होंने अपनी कथा का आधार वर्षों से पीड़ित-शोषित जनता को बनाया क्योंकि वह उनके सबसे अधिक करीब है । राष्ट्र की आज़ादी के लिए लड़ने के लिए बहुत से नायक है, किन्तु सामाजिक गुलामी से आजाद कराने के लिए बहुत ही कम लोग है । यही कारण है कि भिखारी ठाकुर के लिए सामाजिक लड़ाई अधिक महत्वपूर्ण है । जब तक हम सामाजिक रूप से स्वतंत्र नहीं हो जाते तब तक लोक-चेतना का विकास संभव नहीं है । समतामूलक समाज की स्थापना के लिए आवश्यक है कि हम पहले सामाजिक बन्धनों से मुक्त हों । समाज में किसी तरह का भेदभाव न हो तभी समाज और राष्ट्र का विकास संभव हो सकेगा ।

संदर्भ सूची

१.सं.जगदीश,पीयूष.(२००८).अवधी ग्रंथावलीःखंड एक.नई दिल्लीः वाणी प्रकाशन.पृष्ठसंख्या-१७

२.डॉ.सतेन्द्र.(१९६१).लोक साहित्य विज्ञान.आगराःशिवलाल अग्रवाल एंड कंपनी.पृष्ठ संख्या-०३

३.संजीव.(२००४).सूत्रधार.नई दिल्लीःराधाकृष्ण प्रकाशन.पृष्ठ संख्या-१७

४.सं.सिंह,नामवर.(२०१०).आधुनिक हिंदी उपन्यास भाग-२. नई दिल्लीःराजकमल प्रकाशन.पृष्ठ संख्या-१८२

५. सं.सिंह,नागेन्द्र प्रसाद.(२०१५).भिखारी ठाकुर रचनावली.पटनाःबिहार राष्ट्रभाषा परिषद.पृष्ठ संख्या-३९

६. संजीव.(२००४).सूत्रधार.नई दिल्लीःराधाकृष्ण प्रकाशन.पृष्ठ संख्या-१०२

७.वहीं-१०२

८. सं.सिंह,नागेन्द्र प्रसाद.(२०१५).भिखारी ठाकुर रचनावली.पटनाःबिहार राष्ट्रभाषा परिषद.पृष्ठ संख्या-६७

९. संजीव.(२००४).सूत्रधार.नई दिल्लीःराधाकृष्ण प्रकाशन.पृष्ठ संख्या-१३९,१४०

सिंह सेनापति उपन्यास में नारी चित्रण

सुषमा गुप्ता

शोधार्थी
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
sushamagupta96bhu@gmail.com

'मेरा चेहरा खिले क्यों नहीं? हम गांधारियों के लिए वह सबसे आनंद का समय होता है, जब हमारा प्रिय रणक्षेत्र के लाल

कर्दम से सने शरीर के साथ लौटता है।जानते हो, मैं अपनी सहेलियों से बड़े अभिमान के साथ तुम्हारे हाथ के उस खड्ग-

चिह्न के बारे में कहा करती हूं ।खड्ग चिह्न से बढ़कर भूषण नहीं, उससे बढ़कर गौरव का कोई चिह्न नहीं।'

आधुनिक युग के महान समाज सुधारकों राजा राममोहन राय ,पण्डित ईश्वरचंद विद्यासागर,सावित्री बाई फुले एवं ज्योतिबाफुले इत्यादि विभूतियों के सत्यप्रयासों से समाज में उत्पन्न स्त्री मुक्ति की चेतना साहित्य में स्त्री विमर्श बनकर

धीरे - धीरे परन्तु सधे कदमों से आने लगती है।अंततः स्वतंत्रता प्राप्ति के कुछ दशकों में स्त्री विमर्श के बहुसंख्यक

विद्वान साहित्यकार सामने आतें हैं, पुरुष एवं महिला दोनों प्रकार के साहित्यकार में स्त्री विमर्श की महिला साहित्यकार

अधिक हैं, क्योंकि उनकी अनुभूति ज्यादा प्रामाणिक एवं यथार्थ मानी जाती है। हिंदी साहित्य में एक तरफ मैथिलीशरण

गुप्त,महादेवी वर्मा,राहुल सांकृत्यायन,रामनरेश त्रिपाठी अमृतलाल नागर, यशपाल,जैनेंद्र एवं आचार्य चतुरसेन शास्त्री

जैसे कवि कथाकार हैं ,जिन्होंने स्त्री साहित्य की संभावना की पहचान कर उसका एक सुदृढ़ ढाँचा खड़ा किया तो दूसरी

तरफ मैत्रेयी पुष्पा , मृदुला गर्ग, कृष्णा सोबती, प्रभा खेतान, मन्नू भंडारी, अनामिका, मृणाल पांडेय, रमणिका गुप्ता

इत्यादि आत्मकथाकार एवं चिंतक हैं जिन्होंने उस ढांचे में प्राण फूँककर उसे सजीव बनाया। राहुल सांकृत्यायन हिंदी

साहित्य के विराट ऐतिहासिक बोध एवं संवेदनशील चेतना सम्पन्न साहित्यकार हैं।उन्होंने अपनी अद्भुत रचना धर्मिता से

इतिहास के उन कालखण्डों में जाकर स्त्री

जाति की दारुण दशा का जीवंत अंकन किया जो आर्यों के धर्म, राजसत्ता,

साहित्य एवं संस्कृति के गौरवपूर्ण आख्यान एवं मिश्रित जातियों की दुर्दम पराजय के नीचे सहस्त्राब्दियों के छिपी हुई है,

जिसे संभवतः किसी इतिहासकार ने आँख उठाकर भी नहीं देखा।

'सिंह सेनापति' राहुल सांकृत्यायन का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण उपन्यास है। इसकी कहानी वैशाली महाजनपद के

समय की है ।स्वच्छंद जीवन वृत्ति के समर्थक राहुल सांकृत्यायन का जीवन दर्शन पूर्णतः प्रकट हुआ है। इस उपन्यास के

पात्र एक अद्भुत ऊर्जा सम्पन्न एवं मनस्वी व्यक्तित्व के है। इस उपन्यास की नायिका तो राहुल जी के स्त्री चिंतन का

जीवंत रूप है। साम्यवादी राहुल सांकृत्यायन सबको समान एवं किसी भी प्रकार के भेद भाव से रहित मानने के पक्षधर

हैं। उनका यह दृष्टिकोण आलोच्य उपन्यास की नायिका रोहिणी में स्पष्टतः उभरकर आता है जब वह कहती है-'नहीं

कपिल भैया! हँसी न करो ,मुझे नारीत्व की निरीह अवस्था उसकी बुद्धिहीनता पर अफसोस आ रहा था।'

राहुल जी श्रम को सबसे बड़ी शक्ति मानते हैं और इस श्रम से स्त्री को वंचित रखने के विरोधी हैं। चाहे कृषि कार्य हो,

चाहे आखेट हो, चाहे नृत्य आदि ललित कला हो, चाहे युद्ध राहुल सांकृत्यायन हर जगह स्त्रियों की उपस्थिति अनिवार्य

मानते हैं। रोहिणी राहुल सांकृत्यायन की आदर्श नारी पात्रों में से एक हैं। वह हर प्रकार के कार्य में बढ़कर भाग लेतीहै,

यहाँ तक कि दो बार सिंह अपने पति की प्राण रक्षा भी करती है। जब वह श्रमशील तरुणी अपनी प्रथम वैशाली यात्रा के

दौरान आपाद मस्तक गहनों के भार से झुकी,पुष्प की तरह कोमल दास-दासियों से घिरी राजकुमारी को देखती है तो

उसका मन एक प्रकार की जुगुप्सा से भर जाता है। राजकुमारी के लाल -लाल कोमल हथेलियों से वह अपनी खुरदुरी

हथेलियों को अधिक सुंदर मानती है।

मगध की राजकुमारी से रोहिणी कहती है - 'भूषण हमारे काम में बाधक हो सकता है, राजकुमारी! अपनी हथेलियों और

तर्जनी तथा अगुंष्ठ के कर्कश गट्ठों को दिखलाते हुए रोहिणी ने कहा - हमें धनुष तानना है, खड्ग चलाना पड़ता है, खेत

और बाग में भी काम करना होता है, ऐसी अवस्था में हमारे काम में भूषण बाधक हो सकता है।'

राहुल सांकृत्यायन अतीत के माध्यम से वर्तमान स्त्रियों को एक मार्ग प्रदान करते हैं-

समानता का मार्ग, प्रत्येक

क्षेत्र में पुरुषों से बराबरी का मार्ग। वे चाहते हैं कि वर्तमान स्त्रियां प्राचीन भारतीयों स्त्रियों की तरहस्वाभिमानी, कर्मठ,

नृत्य कला से लेकर युद्ध कला तक ,पाक कला से लेकर आखेट कला तक सबमें पूर्णतः कुशल बनें।

'सिंह सेनापति' उपन्यास की नायिका रोहिणी के शब्दों में निहित, राहुल सांकृत्यायन का विषमता विहीन समाज का

आदर्श दृष्टव्य है- 'हम तक्षशिलीय तरुणियाँ भी अपने को तैयार कर रही हैं जैसे तक्षशिला के बालक को पहले- पहल

मधु खड्ग की नोक पर चाटने को भी मिलती है, उसी तरह बालिका को भी तक्षशिला के नर -नारी समान रूप से

आयुधसेवी बनते हैं।

राहुल सांकृत्यायन हिंदी साहित्य के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार हैं। उनका लेखन उस विमर्श के आदिम स्वरूप पर अपनी

सम्पूर्ण अर्थवत्ता से प्रकाश डालता है जिसे आधुनिक हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श कहते हैं। यद्यपि उन्होंने इस विषय पर

अल्प लिखा किन्तु जो लिखा वह अनुभव संपृक्त एवं सारगर्भित लिखा । उन्होंने स्त्री मन की चिर पीड़ा का शब्दांकन

करते हुये उससे मुक्ति के रहस्यों का शब्दांकन करते हुये उससे मुक्ति के रहस्यों का विशलेषण भी किया । कुल मिलाकर

उन्होंने स्त्री -पुरूष को समान मानने की वकालत की है और साथ ही स्त्री को पुरूष की सम्पत्ति समझने का स्पष्ट विरोध

भी किया है। राहुल सांकृत्यायन ने एक ऐसे समाज की कल्पना की जहां जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्त्री -पुरूष कन्धे से

कन्धा मिलाकर परस्पर सहयोग पूर्वक कार्य करेंगे और अपने देश , समाज और संस्कृति का विकास करेंगे।

संदर्भ ग्रन्थ

१. सिंह सेनापति ,राहुल सांकृत्यायन, किताब महल प्रकाशन, १९४४

२. जय यौधेय , राहुल सांकृत्यायन, किताब महल प्रकाशन,१९४४

३. हिंदी का गद्य साहित्य (राहुल सांकृत्यायन),डॉ रामचंद्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन

४. राहुल सांवृत्यायन का कथा साहित्य,डॉ प्रेमशंकर

स्त्री-पुरूष प्रेम संबंधों का अंतर्विरोध है त्रिशंकु

विभा जायसवाल

शोधार्थी
स्नातकोत्तर हिंदी विभाग
सरदार पटेल विश्वविद्यालय
वल्लभ विद्यानगर
आंणद, गुजरात
मो० ८११५६५७४१६
ई-ces}- vibhajaiswal291997@gmail.com

बहुमुखी प्रतिभा की धनी मन्नू भंडारी साठोत्तरी कथा साहित्य के विविधोन्मुखी विकास में महत्वपूर्ण कड़ी सिद्ध होती है। इनके द्वारा साहित्य कि अनेक विधवाओं में लेखन कार्य संपन्न हुआ, पर इन्हें अपने उपन्यासों जैसे 'आपका बंटी', 'महाभोज', 'स्वामी', 'एक इंच मुस्कान' और कहानी संग्रहों जैसे 'यही सच है', 'त्रिशंकु', 'तीन निगाहों की एक तस्वीर', 'मैं हार गई', 'एक प्लेट सैलाब' इत्यादि से सर्वाधिक प्रसिद्ध प्राप्त हुई। उनके कथा साहित्य में खुली क्रांति, विद्रोह और उभरते हुए स्त्री विमर्श में दिखाई पड़ने वाले स्वाभाविक आक्रोश के दर्शन बहुत कम होते हैं, और यदि उनके उपन्यास व कहानियों में शोषकों एवं अत्याचारियों के प्रति होने वाले विद्रोह का स्वर सुनाई भी देता है तो उसकी प्रतीति संवेदनशील और प्रबुद्ध पाठक को अधिक होती है, क्योंकि उस आक्रोश और विद्रोह में मुखरता स्थान पर प्रच्छन्न विद्रोही चेतना विद्यमान है। वस्तुतः मन्नू भंडारी की रचनात्मक अभिरुचि संघर्षशील मनुष्य की नियति और उसके विडंबनाओं को उद्घाटित करने में अधिक रमती है। वे स्त्री के मन में घटने वाली समस्त घटनाओं और हलचलों को अपने लेखन में कुछ इस तरह पिरोती है कि एक स्त्री के अंतर्मन में घटित होने वाले समस्त क्रिया-व्यापार पढ़ने वाले की आंखो के सामने रूपायित होने लगते है। उनकी कथन भंगिमा और चित्रण शैली की विशेषता यह है कि मनुष्य के अंतःकरण में होने वाले वैचारिक द्वंदों और संघर्षों की अभिव्यंजना स्वतः ही होने लगती है। मन्नू भंडारी मन की परतों की भीतर छिपे हुए रहस्य कि ही चितेरी नहीं है, अपितु हुए बहिर्जगत् में होने वाली हलचलों, क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं, घटनाओं तथा समाज की भिन्न-भिन्न दशाओं आदि को भी पूरी सरसता और रोचकता के साथ उभारती चलती है। इनके वैचारिक सरोकारों अथवा विषयगत रुझानों की पड़ताल यदि होती तो अच्छा होता, पर यहाँ स्थानाभाव इसके कारण वैसा प्रयास नामुंकिन है, साथ ही अवांछनीय भी। हाँ, उनकी लिखी 'त्रिशंकु' कहानी में अभिव्यक्त हुए आधुनिकता और स्त्री-पुरुष प्रेम के सहज स्वाभाविक संबंधों की आड़ में

निहित उनकी उस अभिवृत्ति को अवश्य रेखांकित किया जा सकता है।

मन्नू भंडारी की कहानी 'त्रिशंकु' की विषयवस्तु पूर्णतः आत्मीय और विश्वसनीय लगती है। उनकी इस कहानी के पात्र उस भाषा का व्यवहार करते हैं, जिससे न केवल उनकी अलग-अलग चारित्रिक विशेषताओं का उद्घाटन होता है, अपितु इस कहानी की भाषा, पात्रों के द्वारा होने वाले संवाद सब अपने ही घरों में चलने वाले संवाद लगने लगते हैं। इस कहानी के प्रमुख पात्र तनु है और अन्य पात्रों में तनु के माता-पिता और उनके घर के सामने बनी बरसाती में रहने वाले दो-तीन लड़के हैं जिन्हें हॉस्टल ना मिल सकने की वजह से यहाँ आकर रहना पड़ता है। इसके अलावा कहानी में अन्य अनेक पात्र हैं, जिनसे कथासूत्र जुड़ता है और उसमें स्वाभाविक विस्तार आता है।

अपनी इस कहानी के आरंभ में ही मन्नू भंडारी आधुनिकता के अर्थ को उजागर करती हुई लिखती हैं-

'जिस बात की हमारे यहाँ सबसे अधिक कताई होती है, वह है आधुनिकता, पर ज़रा ठहरिए! अधुनिकता का गलत अर्थ मत लगाइए! यह बाल काटने और छुरी कांटे से खाने वाली आधुनिकता कतई नहीं है। यह है ठेठ बुद्धजीवियों की आधुनिकता। यह क्या होती है, सो तो ठीक ठीक मैं भी नहीं जानती, पर हाँ इसमें लीक छोड़ने के बाद बहुत सुनाई देती है। आप लीक को दुलत्ती आए झाड़ते आइये, सिर-आँखों पर लीक से चिपककर आइए, दुलत्ती खाइए।'१

यह आधुनिकता बुद्धिजीवियों की है। इस आधुनिक बुद्धिजीवी वर्ग की पहचान यह है कि यह शारीरिक श्रम को भूल जाता है और इसके स्थान पर दिन भर बातों के सिलसिले, विचारों का आदान-प्रदान, शब्दों की बड़ी-बड़ी क्रान्तियों इत्यादि सब कुछ को स्वीकृति प्राप्त होती है। यदि इनके यहाँ कुछ निषिद्ध है तो वह है कार्य। इन बुद्धिजीवियों के बीच सिगरेट के धुएँ और कॉफी के प्यालों का दौर सदा चलता रहता है, और साथ ही बड़ी बड़ी डींगे उछाली जाती हैं। वे आगे इनके इसी निठल्लेपन और दिखावे की प्रवृत्ति पर आघात करते हुए लिखती हैं-

'मैंने कहीं पढ़ा तो नहीं, पर अपने घर से या लगता जरूर है बुद्धजीवियों के लिए काम करना शायद वर्जित है।'२

इस बुद्धजीवी वर्ग के द्वारा अपने ही घर परिवार में आज की वास्तविक युवा पीढ़ी पर किए जाने वाले मानसिक शोषण और उसके सभी रूपों का मार्मिक चित्रण लेखिका ने अपनी इस 'त्रिशंकु' नामक कहानी में किया है। आधुनिकता की रट लगाने वाले और ऊपर-ऊपर से स्वयं को उधार, विचारशील, शांत और गंभीर दिखाने दर्शाने वाले इस बुद्धजीवी परिवार के अंदर कितनी खोखली मानसिकताएं है, और कितने अंतर विरोध हुआ करते हैं, अथवा हो सकते हैं, इन सभी बिंदुओं का अवलोकन कहानीकार ने बड़ी सजगता और कुशलता के साथ किया हैं। इस आधुनिक परिवार में जीवनयापन कर रही बालिका 'तनु' को उसकी बचपन से ही यह अहसास कराया जाता है कि उसके मम्मी-पापा उसकी प्रत्येक सुख-सुविधा का ध्यान रखते हैं। वे बड़े उदार, सहनशील और संयमी है। उसकी प्रत्येक इच्छा और आवश्यकता का ध्यान रखते हैं, उसे पूरा करते हैं, और भविष्य में भी करते रहेंगे। अपने माता पिता की इन्हीं आचरणों और रूपों को देखते-देखते वह एक दिन बड़ी हो जाती है। वह अपना अच्छा बुरा सब समझने लगती है। वह अब जीवन की उस अवस्था पर पहुँच जाती है, जहाँ उसे विचारशीलता और किसी भी कथन को समझने योग्य विवेकशीलता प्राप्त हो जाती है। उसके घर के सामने एक बरसाती हैं, जहाँ कॉलेज में पढ़ने वाले दो-तीन लड़के आकर रहने लगे हैं। ये लड़के तनु को उसके घर में सामने से देखा करते हैं और उसके द्वारा किए जाने वाले प्रत्येक कार्य पर साथ ही उसकी तरह-तरह की बनने वाली मुद्राओ और भाव-भंगिमाओं पर चुटीली फब्तियां ओर रिमार्क पास करते हैं। उसे अपनी बातों में उलझाने की चेष्टा करते हैं। उसके शारीरिक सौंदर्य पर सहज ही आकृष्ट होकर ये लड़के उसकी तारीफ करते है और उससे हँसी मजाक की भाषा में छेड़खानी भी करते है। इन लड़कों के इस अवांछित व्यवहार से तनु भीतर-ही-भीतर पुलकित होने लगती है। उसे लगने लगता है कि संसार में और की तरह वह भी कुछ है। उसमें अपनी अस्मिता की भावना जागने लगती है, और इसी

बीच उस में प्रेम की सहज आकर्षण के प्रति आसक्ति की भावना का उभार होने लगता है। तनु रोज़ रोज़ होने वाले इस घटना के बारे में अपनी मम्मी को बताती है। वह अपनी मम्मी से निःसंकोच भाव से कहती है कि घर के सामने वाली बरसाती में रहने वाली सभी लड़के सुबह-शाम मुझे देखकर रिमार्क पास करते हैं। पर मम्मी इस बात को सुनकर इस तरह व्यवहार करती है, जैसे की इस घटना का उनके लिए कोई विशेष महत्त्व न उन्हें जैसी इन घटनाओं की कोई खबर ही न हो। तनु को मम्मी की इस अस्वाभाविक आचरण पर आश्चर्य होता है, और साथ ही उसे उनके इस व्यवहार को देखकर चिढ़ भी होती है। वह मम्मी के इस अनचाहे व्यवहार पर अपने खींच व्यक्त करती हुई कहती है-

'अपना छेड़ा जाना मुझे जितना सनसनीखेज लग रहा था, उस पर माँ की ऐसी उदासीनता मुझे अच्छी नहीं लगी। कोई और माँ होती तू फेंटा कस कर निकल जाती और उनके साथ पुश्तों को तार देती, पर माँ पर जैसे कोई असर ही नहीं'३

वस्तुतः हमें यह प्रतीत होता है कि तनु के द्वारा बताई गई सभी बातों का उसकी मम्मी पर गहरा असर हुआ था, लेकिन उन्होंने अपने भीतर उठने वाले क्रोध के उबाल को बाहर नहीं आने दिया। तनु की मम्मी अत्यंत आधुनिक है और साथ ही वे प्रबुद्ध भी है। संभवतः यही कारण है कि उन्होंने अपने भीतर के विरोध को प्रत्यक्षतः प्रकट नहीं होने दिया। यूँ उनका यह विरोध और उन लड़कों के प्रति मन में उत्पन्न हुए क्रोध की अभिव्यक्ति दूसरे तौर-तरीकों से हुई थी। तनु की मम्मी ने उन लड़कों को अपने घर में भोजन के लिए आमंत्रित किया और तनु ने उनकी बातचीत भी करवाई, लेकिन उन लड़कों की खातिरदारी के समय जब उनकी चाय-पानी का प्रबंध मम्मी को स्वयं करना था, तभी उन्होंने इस काम को करने के लिए तनु को आदेश दे डाला। अर्थात तनु के साथ उन लड़कों की दोस्ती नहीं हो पाई, और ना ही वह इनके साथ हँसी-मजाक कर पाई क्योंकि तनु और उसके होने वाले दोस्तों के बीच मम्मी अपने बड़प्पन और मर्यादा की ओट में हस्तक्षेप कर रही थी। यह बुद्धिजीवियों का विरोध जताने का अनूठा ढंग है तनु अपनी मम्मी की इस चतुराई पर झुंझलाकर कहती है-

'धत्त तेरी की मम्मी के दोस्त आएं तब भी तनु बेटा चाय बनाए और उसके दोस्त आएं तब भी। पर मन मार कर उठी। बस जिससे दोस्ती करवाने के लिए उन्हें बुलाया गया था वहाँ बेचारे इस तमाशे की मात्र दर्शक भर ही बनी रही'४

यही इस बुद्धजीवी वर्ग की आधुनिक पहचान है। ये लोग बड़ी-बड़ी बातें जरूर करते हैं। खुद को सहृदय, उदार और खुले विचारशील मस्तिष्क की उपज बताते हैं, परंतु स्वयं इनका अंतः करण, उनकी चेतना घोर रूढ़िवादी और खोखली अंध परंपराओं की पोषक है।

इस कहानी में अनेक स्थलों पर इस प्रबुद्धजीवी वर्ग की खोखली आधुनिकता की तस्वीर दिखाई पड़ती है। तनु की मम्मी ने यद्यपि स्वयं अपने पिता से प्रेम विवाह करने के लिए विद्रोह किया था। उन से मोर्चा लेकर अपने इच्छित विवाह को सफल सार्थक भी बनाया था, लेकिन वही मम्मी अपनी बेटी के दोस्तों को सदा सशंकित नेत्रों से देखती है।उन्हें तनु का अपने दोस्तों से मिलना जुलना कभी रास नहीं आता, अपितु तनु के दोस्त उसकी मम्मी को किसी शूल की तरह सदा खटकते और सालते रहते हैं। यद्यपि वे उन सभी लड़कों को अपने घर भोजन के लिए बुलाती है, और उनसे खुले दिल से मीठी-मीठी बातें भी करती है, तथापि ये सभी तनु की मम्मी के विरोध जताने के अलग और अनूठे तरीके हैं। तनु के मम्मी-पापा मुक्त रहो और बच्चों को भी मुक्त रहने दो का उपदेश अपने पड़ोसियों को अवश्य देते रहते हैं, लेकिन तनु के कमरे में रोज़ उसके दोस्तों की जब महफिल लगने लगती है तब उसकी मम्मी भीतर ही भीतर बहुत परेशान हो जाती है। उन्हें यह चिंता हर क्षण सताती रहती है कि तनु के दोस्त यहाँ रोज क्यों चले आते हैं, और वे उनके रोज़-रोज़ ना आने की योजनाएं बनाने लगती है। वे झुंझलाकर एक दिन तनु को अपने पास बुलाकर स्पष्ट आदेश के लहज़े में कह देती है-

'तू तो उनमे बहुत घुल गई है, कह दे की भी लोग भी बैठकर पढ़ें और तुझे भी बैठकर पढ़ने दे। अगर तुझसे ना

कहा जाए तो मैं कह दूंगी'५

इसी तरह तनु की मम्मी को जब पता लगता है कि तनू और शेखर के बीच प्रेम जैसी कोई चीज़ पनप रही है तो वे ऐसे उपाय सोचने लगती है, जिनसे इन दोनों की बातें-मुलाकातें न हो सके। शिखर रोज़ तंत्र के कमरे में पढ़ने-लिखने के बहाने आया करता था और इन दोनों में घंटों इधर-उधर की बातें हुआ करती थी। यद्यपि इनके बीच पढ़ाई लिखाई भी अपने नियत समय पर रोज़ हुआ करती थी, फिर भी रोज़ उनकी अवधि बहुत छोटी थी और इधर-उधर की बातों की अवधि संभवतः बहुत लंबी हुआ करती थी। पढ़ाई-लिखाई के समय शेखर अजीब-सी मनःस्थिति में रहता। वह बीच बीच में कागज पर अपने मन की बातें लिखता और फिर उन्हें तनु को देकर अपने प्यार का इजहार करता। एक दिन शेखर के कागजों पर लिखे यही प्रेम प्रस्ताव उसकी पुस्तक में तनु के कमरे में ही छूट जाते हैं और उसकी मम्मी के हाथों में पहुँच जाते हैं। उसकी मम्मी इन कागजों को पढ़ते ही क्रुद्ध हो उठती है और उनके मन में एक अजीब-सी झुंझलाहट होने लगती है। इस दशा में इस आधुनिक मम्मी को तनु सिर्फ बित्ते भर की एक लड़की दिखाई देने लगती है और वे तनु को झापड़ मारने की धमकी दे डालती है। वे कहती हैं-

'तो इस तरह चल रही है शेखर और तुम्हारी दोस्ती, यही पढ़ाई होती है यहाँ बैठकर, यही सब करने के लिए आता है वह यहाँ। मैं चुप, जानती हूँ गुस्से में मम्मी को जवाब देने से बड़ी मूर्खता और कोई नहीं। तुम को छूट दी, आजादी दी, पर इसका यह मतलब तो नहीं कि उसका नाजायज फायदा उठाओ। मैं फिर भी चुप, बित्ते भर की लड़की और करतब देखो इनके। जितनी झूठे उतने ही पैर पसरते जा रहे हैं। झापड़ दूंगी तो सारा रोमांस झड़ जाएगा २ मिनट में।'६

ये आधुनिक माता-पिता जो सदैव अपने सगे-संबंधियों और पड़ोसी रिश्तेदारों से मुक्त रहो और बच्चों को भी मुक्त रहने दो की बात किया करते थे, वे अपनी ही बेटी को कभी मुक्त नहीं रहने देते। उन्हें जब पता लगता है कि पहले कभी तनु उन लड़कों से मिलने विशेषकर शेखर से मिलने घर के सामने बनी बरसाती में आया-जाया करती थी तो वे आग बबूला हो उठते हैं। दरअसल बात यह है की तनु का इस तरह से मिलना पूरे मोहल्ले वालों को खटकता था और वे इसकी शिकायत के इरादे से उनकी मम्मी के पास तक पहुँच जाया करते थे और साफ-साफ कहते थे कि तनु बहुत तेज चल रही है। इन सभी उलाहनों और शिकायतों का उसकी मम्मी पर गहरा असर होता था, पर खुद पर होने वाले इस असर को वो कभी दर्शाती न थी। वे अब तनु को लेकर चिंतित रहने लगी थी और साथ ही उन्हें अपने सम्मान, स्वाभिमान की मिट्टी पलीद होती दिखाई दे रही थी। जब उन्हें ज्ञात हुआ कि तनु दोस्तों से मिलने उनके ठिकाने पर जाती थीं तो उन्हें अपनी इज्जत उतरती हुई नजर आती है। उनका माथा शर्म से झुक जाता है और उनकी नाक तक कट जाती है। वे कहती हैं-

'याद नहीं है मैंने शुरू से ही मना किया था कि तुम उनके कमरे पर कभी नहीं जाओगी। तीन-तीन घंटे वह यहाँ धूनी रमाकर बैठता है उससे जी नहीं भरा तुम्हारा। दुख, क्रोध और आतंक की परतें उनके चेहरे पर गहरी होती जा रही थी और मैं समझ ही नहीं पा रही थी कि मैं कैसे उन्हें सारी स्थिति समझाऊ। वह तो बेचारे सामने वाले ने बुलाकर मुझे आगाह कर दिया। जानती है यह सिर आज तक किसी के सामने झुका नहीं पर वहाँ मुझसे आंखें नहीं उठाई गई। मुँह दिखाने लायक मत रखना हमको कही भी। सारी गली में थू-थू हो रही है। नाक कटा कर रख दी।'७

आज के इस आधुनिक बुद्धिजीवी मध्य वर्ग में जीवन व्यतीत करने वाली यह दम्पत्ति जब भी आधुनिक मूल्यों को अपनाने का परामर्श देती है, तब वह नितांत आत्मीय और परिचित जान पड़ती है, किंतु जैसे ही वह अपनी ही छोड़ी लीक पर पुनः पैर धरती है, वैसे ही उससे हमारी स्पर्धा शुरू हो जाती है। उसके प्रति तरह-तरह के अंतर्विरोधो, संघषी और झगड़ों का सिलसिला शुरू हो जाता है। तनु के साथ भी ठीक यही घटना घटती है। उसके मन में यह प्रश्न उठता है कि जब मुझे उन्हीं की इच्छाओं से संचालित होना था तो मुझे इतनी स्वतंत्रता क्यों दी गई? वह यह विचार करती है कि उसे ऐसे खुले

और उदार प्रवेश में क्यों रखा गया? वस्तुतः तनु की मम्मी बाहर से तो स्वयं को आधुनिक और उदार दर्शाती है लेकिन उनके मन में वही रूढ़िवादी मूल्य जीवित है। उनकी भावनाओं और विचारों में हमेशा नाना के विचार और भावनायें वास करती है। तनु को लगता है कि नाना उनके मन में जीवित है और स्वयं वे ही मम्मी की कंठ से अपने मूल्य और संस्कारों के साथ अभिव्यक्त होते है। उसे लगता है कि वह एक साथ अपनी मम्मी और नाना से कैसे लड़ेगी और कितना संघर्ष करेगी? उसे आश्चर्य तब होता है जब पूरा मोहल्ला ही मम्मी के रूम में उतरकर बोलने लगता है। वह पहले हताश हो जाती है, पर विचार मंथन के दौरान ही उसे लगता है कि वह वही करेगी जो उसके मन में है। वह भी अपनी मम्मी की तरह मुक्त रहेंगी और वो सका तो प्रेम विवाह भी करेगी। वह मन ही मन दृढ़ निश्चय करती हुई कहती है-

'पर इस बार मैंने तय कर लिया कि सारे मामले में मम्मी को यदि नाना बनकर व्यवहार करना है तो मुझे भी फिर मम्मी की तरह ही मोर्चा लेना होगा और उनसे और मैं जरूर लूँगी। दिखा तो दूँ कि मैं तुम्हारी ही बेटी हूँ और तुम्हारे ही नक्शे-कदम पर चल रही हूँ। खुद तो उसे लीक से हटकर चली थी, सारी जिंदगी इस बात की घुट्टी पिलाती रही, पर मैंने जैसे ही अपना पहला कदम रखा, घसीटकर मुझे अपने ही खींची लीक पर लाने के दंद-फंद शुरू हो गए।'८

इस पूरी कहानी में तनु का मुखर प्रतिरोध दिखाई नहीं देता लेकिन मम्मी की यह कहने पर की 'साथ तो चलना ही पड़ेगा। कभी औंधे मुँह गिरी तो कोई उठाने वाला भी तो चाहिए न? उसकी विरोध भावना जाग उठती हैं। वह यह तो जान जाती है कि उसकी मम्मी उसे दोस्तों के साथ फ़िल्म देखने नहीं जाने देगी लेकिन दनदनाती हुए वह अपने कमरे में आती है और एक निर्भीक उत्तर उन्हें अवश्य दें आती है। यथा-

'उठी और दनदनाती हुई अपने कमरे में आ गई, हाँ एक वाक्य जरूर थमा आई। मम्मी जो चलेगा वह गिरेगा भी और जो गिरेगा वह उठेगा भी और खुद ही उठेगा। उसे किसी की जरूरत।'९

इस कहानी में घटने वाली सभी घटनाओं से, पात्रो के पारस्परिक संवादों से और क्रियाकलापों से आधुनिक बुद्धजीवियों की आधुनिकता समझ में आती है तनु की मम्मी चोरी-छुपे हों उन हथकंडों को अपनाती है, जिनसे तनु और शेखर में पनपने वाले प्रेम का दामन हो सके, और भी इस कार्य में सफल भी होती है। शेखर और उसके दोस्त अपने इस यादगार निवास को छोड़कर अन्यत्र चले जाते है और तनु अकेली रह जाती है। वह अपने और शिखर के बीच पनपने वाले प्रेम को विवाह या मैत्री जैसे किसी बंधन में परिणत नहीं कर पाती।

संदर्भ सूची-

१. हिंदी कहानी संग्रह- संपादक भीष्म साहनी प्रकाशन-२०२३ पृष्ठ सं० २५१

२. वही- २५१

३. वही- २५३

४. वही- २५५

५. वही- २५७

६. वही- २५९

७. वही- २६४

८. वही- २६४-२६५

९. वही- २६३

शिक्षा की असफलता यानी समाज-देश की असफलता

(पुस्तक समीक्षा)

नवेन्दु जोशी

दिनेश कर्नाटक की ताजा पुस्तक 'शिक्षा में बदलाव की चुनौतियाँ' भारतीय शिक्षा प्रणाली के कई मुद्दों पर विस्तृत चर्चा करती है और उसकी कार्यप्रणाली को देखने और समझने के लिए एक दृष्टिकोण प्रदान करती है। पुस्तक विभिन्न स्कूली प्रक्रियाओं का व्यवस्थित रूप से विश्लेषण करती है। इसके अलावा यह शिक्षा से जुड़े अहम् मुद्दों को सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक संदर्भ में देखती है जो इसे सार्वजनिक चिंतन का विषय बनाती है। पुस्तक मूल रूप से यह सवाल उठाती है कि शिक्षा की चुनौतियों को सिर्फ शिक्षा से जुड़े लोगों के विमर्श का विषय नहीं, बल्कि सार्वजनिक मुद्दा बनना होगा तभी इसमें बदलाव संभव है।

लेखक के अनुसार हमें रोटी, कपड़ा व मकान की तरह शिक्षा की समस्याओं के बारे में बात करनी होगी क्योंकि शिक्षा हमारे सोचने, कार्य करने और प्रतिक्रिया देने के तरीके को प्रभावित करती है। पुस्तक में 'शिक्षित होने के अर्थ' और 'शिक्षा के अर्थ' पर भी प्रकाश डाला गया है। प्रायः शिक्षित होने को साक्षर होने, सर्टिफिकेट अथवा डिग्री प्राप्त करने या नौकरी अर्जित करना मान लिया जाता है। लेखक का तर्क है कि शिक्षित होना सिर्फ डिग्री हासिल करना या अच्छी नौकरी पाना नहीं है, यह जीवन की तैयारी और एक अच्छे इंसान के बनने की प्रक्रिया है। पुस्तक के विभिन्न अध्याय शिक्षा प्रणाली और स्कूल प्रक्रियाओं से जुडी चुनौतियों पर चर्चा करते है। यह पुस्तक शिक्षा के निजीकरण, शिक्षण अधिगम प्रक्रिया, शिक्षण पेशे का यांत्रीकरण, छात्रों की विफलता, शिक्षा के माध्यम, शिक्षकों की स्वायत्तता आदि विषयों के बारे में सोचने को विवश करती है।

पुस्तक वार्तालाप के स्वर में है और ऐसा लगता है जैसे लेखक पूरी पुस्तक में पाठकों के साथ बातचीत कर रहा है। प्रत्येक मुद्दे पर चर्चा करते हुए लेखक उस मुद्दे से संबंधित कुछ प्रश्न उठाता है, यह पाठक को पढ़ने में व्यस्त रखता है और उन्हें सोचने और चिंतन करने के लिए प्रेरित करता है। लेखक का तर्क है कि शिक्षा की असफलता के मुख्य कारणों में से एक प्रक्रिया-उन्मुख मानसिकता के बजाय परिणामवादी मानसिकता है। शिक्षा से संबंधित सभी नीतियां और कार्यक्रम सुस्पष्ट कार्यान्वयन को नज़रअंदाज़ कर बनाये जाते हैं। शिक्षकों का मूल्यांकन इस बात से किया जाता है कि उन्होंने पाठ्यक्रम कितना पूरा किया और उनके छात्रों के कितने अंक आये। इसी तरह छात्रों को परीक्षा में उनके प्रदर्शन से आंका जाता है, जिसकी वजह से शिक्षण प्रक्रिया से जुड़े मुद्दों के बारे में कोई चर्चा नहीं होती है। छात्र कैसे सीखते हैं और क्या जानते हैं, शिक्षक कैसे पढ़ाते हैं, स्कूल में किस तरह का वातावरण है, छात्र किस तरह के मूल्य सीख रहे हैं, आदि मुद्दे नजरअंदाज हो जाते हैं। इस बात पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता कि शिक्षकों को कक्षा में पढ़ाने की स्वतंत्रता और स्वायत्तता है कि नहीं और क्या छात्रों को प्रश्न पूछने और सीखने की प्रक्रिया में भागीदार बनने के लिए अवसर दिए जाते हैं कि नहीं।

लेखक की सबसे बड़ी चिंता यह है कि वर्तमान शिक्षा प्रणाली अच्छे इंसानों का निर्माण करने और लोकतांत्रिक और मानवतावादी मूल्यों पर आधारित समाज बनाने में विफल हो रही है। इसके फलस्वरूप एक अनैतिक, भ्रष्ट, परिणामवादी समाज का निर्माण हो रहा है। शिक्षा से जुड़े होने के कारण लेखक शिक्षण प्रणाली कैसे, कहां और क्यों विफल हो रही है के विषय में एक विस्तृत विवेचन कर पाया है। लेखक ने बहुत दिलचस्प अंदाज़ में स्कूलों की सूक्ष्म प्रक्रियाओं को बड़े सामाजिक मुद्दों से जोड़ा है। लेखक शिक्षा

प्रणाली के मशीनीकरण को लेकर सवाल उठाता है, उसका कहना है कि शिक्षा प्रणाली यांत्रिक हो गई है, जिसका मुख्य उद्देश्य छात्रों को परीक्षा उत्तीर्ण करना और भविष्य में नौकरियों के लिए तैयार करना है और अब इस में तर्कसंगत सोच, रचनात्मकता, दूसरों के प्रति सहानुभूति आदि के लिए कोई जगह नहीं बची है। शिक्षा की वर्तमान प्रणाली के कारण, छात्र आत्मबोध करने और उनके हितों की पहचान करने में अक्षम हैं, बाजार में उपलबध विकल्प और उत्पाद उनके व्यक्तिगत और व्यावसायिक निणर्यों को प्रभावित करते हैं।

स्कूल प्रणाली की एक और बड़ी दुविधा यह है कि इसे मनुष्य निर्माण की प्रक्रिया के बजाय नौकरशाही के पारंपरिक तरीके से चलाया जाता है जहां अधिकारी आदेश पारित करते हैं और शिक्षकों और छात्रों से आदेशों का पालन करने की अपेक्षा की जाती है। इस प्रणाली में छात्रों और शिक्षकों के लिए शिक्षण प्रक्रिया में भागीदार बनने के की जगह और स्वतंत्रता निरन्तर सिकुड़ती जा रही है। हालांकि विकृत प्रणाली और उसकी विफलता को छिपाने के लिए दोष शिक्षकों पर थोप दिया जाता है। लेखक की चिंता है कि शिक्षा की वर्तमान प्रणाली हमारे संवैधानिक और लोकतांत्रिक आदर्शों को प्राप्त करने में असफल हो रही है। शिक्षा की वर्तमान प्रणाली हमें व्यक्तिवादी बनाती है और विशेषाधिकार वाले वर्ग को बढ़ावा देती है। वर्तमान प्रणाली वर्ग हित में कार्य करती है और माता-पिता की क्रय शक्ति के अनुसार शिक्षा प्रदान करती है। शिक्षा के बाजारीकरण के परिणामस्वरूप, ट्यूशन, महंगे निजी स्कूल और कोचिंग सेंटर अंकुरित हुए हैं जिन्हें सफलता की गारंटी के रूप में प्रचारित किया जाता है। नतीजतन सरकारी स्कूल उन लोगों के लिए छोड़ दिए जाते हैं जो या तो निजी अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों का खर्च नहीं उठा सकते या उन जगहों पर रहते हैं जहां कोई निजी स्कूल उपलब्ध नहीं हैं। निजी स्कूलों की बढ़ती संख्या और सरकारी स्कूलों की घटती साख का उपाय शासन में बैठे लोगों को स्कूलों को अंग्रेजी माध्यम में बदलना लगता है, यह समाधान शिक्षा के बारे में परिणामवादी ढंग से सोचने और शिक्षा की प्रक्रिया पर चर्चा नहीं करने का नतीज़ा है। इस आसान लगते समाधान के पीछे यह मानसिकता है कि शिक्षा का माध्यम बदलने से ही छात्रों के सीखने के स्तर में सुधार हो जायेगा और उन्हें अच्छे परिणाम मिलेंगे।

लेखक का मानना है कि शिक्षा की असफलता को सफलता में बदलने का प्रभावी तरीका समानता, न्याय और बंधुत्व पर आधारित समावेशी स्कूल ही हो सकते हैं। वह मातृभाषा को शिक्षा की माध्यम भाषा और अंग्रेजी को द्वितीय भाषा के रूप में अपनाने का सुझाव देता है। लेखक के अनुसार जिन छात्रों की मातृभाषा और कार्यात्मक भाषा अंग्रेजी से अलग है, उनके लिए अंग्रेजी में अवधारणाओं को समझना मुश्किल होता है, इस कारण वह भाषा के साथ निरंतर संघर्ष करते हैं और यह उनके मन में शिक्षा से अलगाव पैदा करता है, और वे सीखने की प्रक्रिया का आनंद लेने में अक्षम हो जाते है। इसका परिणाम यह होता है कि यह हमें हमारे स्थानीय ज्ञान और संस्कृति से अलग कर देता है और हम उसे कमतर समझने लगते हैं। लेखक कहता है कि शिक्षा के क्षेत्र में चल रही वर्तमान चर्चाएं वास्तविक सवालों से कोसों दूर हैं, इस पर कोई ध्यान नहीं दिया जा रहा है कि इस प्रणाली के माध्यम से किस तरह का समाज और मानव निर्मित हो रहा है।

यह पुस्तक इस महत्वपूर्ण मुद्दे को भी उठाती है कि शिक्षा छात्रों के लिए बोझ क्यों बन जाती है और वे सीखने की प्रक्रिया का आनंद क्यों नहीं उठा पाते। लेखक का कहना है कि इसका एक बड़ा कारण इस मानवीय पेशे का मशीनीकरण है जहां पूरी बात छात्रों की संख्या, पाठ्यक्रम, समय- सारणी और अंकों तक सिमट जाती है। ज्यादातर शिक्षक, छात्रों को उनके अनुक्रमांक से ही जानते हैं और केवल वही छात्र शिक्षकों की नज़र में आते हैं जो परीक्षा में बेहतर प्रदर्शन करते हैं। परिणामवादी सोच की समस्या यह है कि छात्रों पर परीक्षा में बेहतर प्रदर्शन करने के लिए दबाव डाला जाता है और उन्हें सीखने की प्रक्रिया का आनंद लेने, खेलने या अन्य जीवन कौशल विकसित करने का समय नहीं मिलता। लेखक का कहना है कि छात्रों में पढ़ने की आदत को उनके जीवन के शुरुआती वर्षों में सीखने और जानने की प्रक्रिया के रूप में विकसित किया जाना चाहिए न कि अच्छे अंक प्राप्त करने के साधन के रूप में। उसने इस बात पर भी जोर दिया है कि छात्रों को प्राथमिक ग्रेड तक कोई होम-वर्क नहीं दिया जाना चाहिए। होम-वर्क के बोझ के कारण छात्रों को दूसरों के साथ

मेलजोल बढ़ाने और अन्य जीवन कौशल सीखने का ज्यादा समय नहीं मिल पाता। वह स्कूल के पाठ्यक्रम में काष्ठकला, पेंटिंग, नलसाजी आदि जैसे कौशल को शामिल करने के लिए तर्क देता है। उसका मानना है कि इससे विद्यार्थी कुशल होने के साथ-साथ शारीरिक श्रम के प्रति संवेदनशील भी बनेंगे। लेखक की मुख्य चिंता निरंतर विकृत होती शिक्षा प्रणाली के कारण बनने वाले समाज की है। उसका तर्क है कि इस विकृत प्रणाली के परिणाम स्वरूप एक विकृत समाज का निर्माण हो रहा है जहां भोग व उपभोग को ही जीवन की उपलब्धि समझा जा रहा है और सामूहिकता को अपनाने के बजाय व्यक्ति खुद को समाज से अलग मानकर चलता है।

लेखक के अनुसार वर्तमान शिक्षा प्रणाली भय, विश्वास की कमी और परिणामवादी मानसिकता की ओर उन्मुख है। शिक्षा व्यवस्था का शिक्षकों पर भरोसा नहीं है और उन पर पाठ्यक्रम को समय से पूरा करने को लेकर लगातार दबाव बना रहता है, जबकि हर रोज नए-नए फरमानों के जरिए पढ़ाई के मौके कम होते जाते है। छात्रों को सवाल पूछने से डर लगता है क्योंकि सवाल पूछना कक्षा के प्रवाह में व्यवधान माना जाता है। हमारी शिक्षा प्रणाली लक्ष्य और अच्छे अंक प्राप्त करने की ओर केंद्रित है, इसलिए शिक्षक छात्रों के प्रश्नों में रुचि नहीं रखते, वे पाठ्यक्रम को पूरा करने और फिर छात्रों को अपनी परीक्षाओं के लिए तैयार करने की दिशा में अधिक ध्यान केंद्रित करते हैं। विद्यालय में कृत्रिम अनुशासन स्थापित करने के लिए शिक्षकों को छात्रों के साथ एक अंतर बनाए रखना होता है, जिस वजह से छात्रों को प्रश्न पूछने के लिए प्रेरित करने वाले एक सकारात्मक और स्वतंत्र वातावरण का निर्माण नहीं हो पाता। लेखक का मानना है कि शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य छात्रों को जानने व खोजने के प्रति उत्सुक बनाना और सवाल पूछने के लिखे प्रेरित करना है।

पाठ्यपुस्तक केंद्रित शिक्षा छात्रों, शिक्षकों और समाज के लिए उपयोगी साबित नहीं हो रही है। शिक्षक एक ही पाठ्यकरण को बार-बार पढ़ाकर बोर हो जाते हैं और उन्हें लगता है कि वे सब कुछ जानते हैं। छात्र पाठ्यपुस्तक पर पूरी तरह निर्भर हो जाते हैं और नई चीजों का पता लगाने की क्षमता खो देते हैं। लेखक इस बात पर जोर देता है की शिक्षा केवल तभी आनंददायक हो सकती है जब शिक्षक और छात्र दोनों सीखने में भागीदार बनें और शिक्षा का उद्देश्य अच्छे अंक प्राप्त करने के बजाय बेहतर इंसान बनाना हो जाए।

लेखक शिक्षक के पेशे के बारे में भी चर्चा करता है। उसका कहना है कि शिक्षकों के पेशे को राष्ट्र की सेवा के रूप में देखा जाता है लेकिन शिक्षकों को स्वायत्तता नहीं दी जाती है और शिक्षा व्यवस्था की विफलता के लिए हमेशा उसकी जवाबदेही बनी रहती है। शिक्षकों से केवल आदेशों का पालन करने और किसी भी चीज पर सवाल नहीं उठाने की उम्मीद की जाती है। उन्हें उनके जीवन और पेशे को प्रभावित करने वाली नीतियों और निणर्यों में भागीदार नहीं बनाया जाता। आदेशों का पालन करने में कुशल होने वाले शिक्षकों को आधिकारिक स्तर पर पुरस्कृत किया जाता है। शिक्षकों का मूल्यांकन छात्रों के अंकों और पाठ्यक्रम पूरा होने के आधार पर किया जाता है, जो इस पेशे को एक बहुत ही यांत्रिक कार्य के रूप में बना देता है। सेवारत प्रशिक्षण कार्यक्रम भी केवल नाम की खातिर आयोजित किए जाते हैं। लेखक ने जोर देकर इस बात को कहा है कि जिस तरह की स्वतंत्रता की हम छात्रों के लिए उम्मीद करते हैं, शिक्षक को भी उसी तरह की स्वतंत्रता की आवश्यकता होती है।

लेखक ने शारीरिक दंड के बारे में भी अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। उसका तर्क है कि शारीरिक दंड की उपस्थिति एक सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक मुद्दा है क्योंकि हम समस्या के कारण को समझने के बजाय छात्रों को चुप कराने को समाधान मान लेते हैं। हम समस्या को तिल से ताड़ बनने तक दबाते हैं और समस्या के बड़े होने के बाद उसे हल करने के लिए अभियान शुरू करते हैं। उसने जोर देकर कहा है कि छात्रों में आत्मविश्वास डर के माध्यम से उत्पन्न नहीं किया जा सकता, वे शिक्षकों का सम्मान तभी करेंगे जब उन्हें पाठ दिलचस्प लगेगा और जब उन्हें एहसास होगा की शिक्षक के लिए वह महत्वपूर्ण है। बल का प्रयोग, अनुशासन का भ्रम पैदा करता है लेकिन यह वास्तविक नहीं है। वास्तविक अनुशासन तब आता है जब सिस्टम अनुशासित होता है और सिस्टम में काम करने वाले लोग अपने काम के प्रति अनुशासित होते हैं। एक शिक्षक का कर्तव्य छात्रों को शिक्षा के महत्व का एहसास कराना है और जब छात्र इसे समझते हैं तो जबरदस्ती की कोई आवश्यकता नहीं रहती है। शारीरिक दंड से प्रेरित डर छात्रों के समग्र विकास पर बुरा प्रभाव डालता है। उनका मानना है कि छात्रों को समस्या

के रूप में देखने के बजाय शिक्षण प्रक्रिया के भागीदार के रूप में देखा जाना चाहिए।

लेखक वर्तमान परीक्षा पैटर्न के समावेशी नहीं होने पर आपत्ति करता है। चूंकि समाज में सफलता का मानदंड छात्रों के अंकों पर निर्भर करता है, इसलिए जो छात्र परीक्षा में बेहतर प्रदर्शन करने में सक्षम नहीं होते हैं, उन्हें नीचा दिखाया जाता है और इससे उनके आत्मसम्मान पर बुरा प्रभाव पड़ता है। परीक्षाएं रोचक होने के बजाय छात्रों के लिए बोझ बनकर सामने आती हैं। वह कहता है कि छात्रों की विफलता उनकी व्यक्तिगत विफलता नहीं है, यह शिक्षकों, स्कूल और समाज की विफलता है। शिक्षक का पेशा न केवल शिक्षकों की शिक्षण क्षमता की मांग करता है, बल्कि छात्रों के साथ जुड़ने और छात्रों के साथ सहानुभूति रखने की क्षमता की भी मांग करता है। शिक्षण पेशे में समर्पण और आत्मनिरीक्षण की अत्यधिक आवश्यकता होती है। हालांकि, वर्तमान में, केवल छात्रों के अंक और पाठ्यक्रम को लेकर ही सिस्टम और शिक्षक परेशान हैं।

८ वीं और १०वीं कक्षा में बोर्डी को फिर से शुरू करने की मांग करने वाले शिक्षकों का तर्क है कि यह शुरुआती चरण में छात्रों को फ़िल्टर करेगा और परिणामों में सुधार करेगा। लेकिन सवाल यह है कि क्या स्कूल एक फ़िल्टरिंग मशीन की तरह है या एक ऐसी जगह है जहां छात्र सीखते हैं और बेहतर इंसान बनते हैं। लेखक का कहना है कि फ़िल्टरिंग मशीन के रूप में काम करने के बजाय, शिक्षा को छात्रों के बीच वैज्ञानिक दृष्टिकोण बनाने की दिशा में केंद्रित किया जाना चाहिए। वैज्ञानिक सोच विकसित करना, जिज्ञासु होना और सवाल करना बहुत महत्वपूर्ण है लेकिन शिक्षा की वर्तमान प्रणाली में सवाल और जिज्ञासा के लिए जगह लगातार खत्म होती जा रही है। नतीजतन युवाओं की सोच रूढ़ियों और पूर्वाग्रहों से ग्रस्त है और वे अपने व्यक्तिगत हितों के आधार पर अपनी राय बनाते हैं और यही समाज में उपस्थित सामाजिक बुराइयों का कारण है।

यह पुस्तक शिक्षा प्रणाली में मौजूद चुनौतियों की ओर इशारा करने के साथ-साथ उन चुनौतियों से निपटने के लिए संभावित समाधानों की भी सिफारिश करती है। लेखक राष्ट्रीय पाठ्यक्रम ढांचे (२००५) एनसीएफ-०५ दस्तावेज़ का हवाला देता है। उसका कहना है कि यदि दस्तावेज का पूरी ईमानदारी से पालन किया जाता तो यह शिक्षा प्रणाली में क्रांतिकारी बदलाव होता और परिणामस्वरूप एक बेहतर समाज का निर्माण होता। एनसीएफ -०५ बाल केंद्रित शिक्षा के बारे में बात करता है लेकिन वर्तमान में छात्रों के दृष्टिकोण क्लास में दबा रह जाता है, और पाठ्यपुस्तक और पाठ्यक्रम ही उनका मार्गदर्शन करता है। एनसीएफ-०५ में उल्लेख किया गया है कि बच्चे तभी सीख सकते हैं जब वे कक्षा में महत्वपूर्ण महसूस करते हैं, लेकिन हमारे स्कूल उन्हें ऐसा महसूस नहीं करा पाते। यह बहुत आवश्यक है कि शिक्षकों को अपने छात्रों की समझ हो और वे उन्हें महत्वपूर्ण महसूस कराएं।

इसके अलावा, एनसीएफ-०५ मानकीकृत परीक्षा के बजाय व्यापक और निरंतर मूल्यांकन के बारे में बात करता है लेकिन हमारी वर्तमान प्रणाली केवल छात्रों की याद रखने की शक्ति का मूल्यांकन करती है। एनसीएफ -०५ हमारी शिक्षा प्रणाली की सबसे बड़ी विफलता यह मानता है कि यह छात्रों की रटने, याद रखने और दोहराने की क्षमता का परीक्षण करती है। एनसीएफ-०५ मेरिटोक्रेसीय यानि योग्यतातंत्र से उबरने के बारे में बात करता है क्योंकि यह छात्रों को व्यक्तिवादी बनाता है और विभाजन पैदा करता है। एनसीएफ-०५ में यह भी उल्लेख किया गया है कि शिक्षा का ध्यान परीक्षा और अंतिम परिणामों पर नहीं बल्कि जानने और सीखने की प्रक्रिया पर होना चाहिए।

मुझे यह किताब बहुत दिलचस्प लगी और शिक्षा पर सोचने-विचारने वाले लोगों को इसे जरूर पढ़नी चाहिए। शिक्षा प्रणाली की परिधि के भीतर या बाहर सभी लोगों के लिए समान रूप से यह एक उपयोगी मार्गदर्शिका है तथा हमें यह तथ्य समझाने में सफल होती है कि शिक्षा और इसकी चुनौतियां हमारे दिन-प्रतिदिन के जीवन से कैसे जुड़ी हुई हैं। यह हमें शिक्षा के मुद्दों के प्रति अधिक सहानुभूतिपूर्ण और विचारशील बनाने का एक प्रयास है जो की शिक्षित होने का महत्वपूर्ण पहलू है। इस पुस्तक ने मुझे कई सवालों के साथ छोड़ दिया है और शिक्षा के बारे में अपने विचारों का आत्मनिरीक्षण करने के लिए प्रेरित किया है। एक छात्र शोधकर्ता के रूप में, इस पुस्तक ने मुझे शिक्षा प्रणाली

की चुनौतियों को और अधिक स्पष्ट रूप से समझने में मदद की है और मुझे शिक्षा प्रणाली में काम करने वाले लोगों के प्रति अधिक संवेदनशील बनाया है। इस पुस्तक में उन सवालों के बारे में भी चर्चा की गई है जो हमें शिक्षा प्रणाली को समझने की कोशिश करते समय खुद से पूछने की आवश्यकता होती है। अधिकतर, सरकारी प्रणाली की विफलता सरकारी अधिकारियों और पदानुक्रम के सबसे निचले स्थान पर काम करने वाले लोगों पर थोपी जाती है, लेकिन हकीकत यह है कि अगर सरकार का मन्तव्य एक व्यवस्था का बेहतर काम करना है तो सिस्टम अच्छा प्रदर्शन करता है। यह पुस्तक हमें बार-बार याद दिलाती है कि हमारे देश में सरकारी स्कूलों की विफलता शिक्षकों, छात्रों और सिस्टम में काम करने वाले लोगों के कारण नहीं है, बल्कि अप्रभावी नीतियों और कार्यक्रमों के कारण है।

पुस्तक शिक्षा ही नहीं विभिन्न सरकारी प्रणालियों के बारे में पुनर्विचार को प्रेरित करती है और हमें अपने मूल्यों, विश्वासों और आदर्शों पर आत्मनिरीक्षण करने के लिए प्रेरित करती है। पुस्तक का तर्क है कि स्वास्थ्य और शिक्षा के क्षेत्र में बेलगाम निजीकरण लोगों के लिए काफी नुकसानदायक हो सकता है, यह लोकतांत्रिक मानदंडों और आदर्शों के खिलाफ है। सरकारी प्रणालियां सेवा उन्मुख होती हैं और यदि ये प्रणालियां बेहतर प्रदर्शन करती हैं, तो लोग सेवाएं प्राप्त करते हैं। जबकि, निजी प्रणालियां लाभ उन्मुख होती हैं, उनका तर्क मुनाफे द्वारा निर्देशित होता है। इसलिए शिक्षा में बदलाव के लिए सबसे पहले विभिन्न प्रकार के स्कूलों को समन्वयी शिक्षा प्रणाली द्वारा प्रतिस्थापित किया जाना चाहिए ।

Email address is:
navaindujoshi@nias.res.in
My phone number is:
8130723656
My institute address is:
National Institute of Advanced Studies, IISc campus, Bengaluru, Karnataka, 560012

ममता बनर्जी को सम्मानित किए जाने के विरोध में

मैं मुख्यमंत्री को साहित्य पुरस्कार देने के कदम से अपमानित महसूस कर रही हूं। यह एक बुरी मिसाल कायम करेगा।

राशिद बनर्जी

कोलकाताः एक बंगाली लेखिका और लोक संस्कृति शोधकर्ता ने मुख्यमंत्री ममता बनर्जी को साहित्य के क्षेत्र में उनके योगदान को लेकर विशेष पुरस्कार देने के पश्चिमबंगा बांग्ला अकादमी के फैसले के विरोध में मंगलवार को अकादमी द्वारा दिया गया पुरस्कार लौटा दिया. रत्ना राशिद बनर्जी ने 'अन्नद शंकर स्मारक सम्मान' लौटाया है, जिससे अकादमी ने साल २०१९ में उन्हें सम्मानित किया था ।

'हिन्दी पत्रकारिता और साहित्य निर्माण'

संगोष्ठी संयोजक- राजेश कुमार गर्ग
हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

तृतीय सत्र एवं समापन सत्र , २१ मई २०२३
दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी
स्थान- हिन्दुस्तानी एकेडमी सभागार, प्रयागराज

संगोष्ठी के समापन सत्र में बोलते हुए प्रो. राजेंद्र सिंह रज्जू भैया विश्वविद्यालय के डॉ. आशुतोष कुमार सिंह जी ने कहा कि कवि वचन सुधा और बाला बोधनी जैसी पत्रिकाओं से जिन पत्रकारिता संबंधी मूल्यों का निर्माण हुआ था उसकी निर्मिति में केशवराम भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, लाला सीताराम भूप, ठाकुर जगमोहन सिंह और अंबिका दत्त व्यास जैसे पत्रकारों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डॉ. विभु खरे दास ने कहा कि ओटीटी जैसे माध्यमों में जिन मूल्यों को चुनौती दी जा रही है हिंदी पत्रकारिता को उस तरफ भी ध्यान देना चाहिए। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से पधारे अतिथि वक्ता प्रो. हरिराम मिश्र जी ने कहा के हिन्दी पत्रकारिता को मूल्यरक्षा की तरफ भी ध्यान देना चाहिए। माता पिता, गुरु और पत्र पत्रिकाएं ही नवयुवकों की निर्मिति का आधार हैं। उन्होंने कहा कि १८८० में पटना से जब 'सुधर्मा' नामक संस्कृत पत्रिका प्रारंभ हुई थी तब उसका संकल्प इसी तरह का निर्माण पक्ष ही था। प्रतिमूल्यों से बाहर निकालने का काम यही पत्रिकाएं ही करती हैं। अध्यक्षीय वक्तव्य देते हुए महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय से पधारे प्रो. अवधेश कुमार जी ने कहा कि साहित्य अखबारों की कतरनों से नहीं पैदा होता बल्कि वह पल्लव ग्राही पत्रकारों और आकाश धर्मा विचारकों से बनता है। पत्रकारिता भी आकाश धर्मा गुरु का दूसरा रूप ही है। सस्ती लोकप्रियता और तात्कालिकता आज पत्रकारिता की प्रमुख चुनौतियां बनकर उभरी हैं। समापन सत्र का संचालन इलाहाबाद विश्वविद्यालय के डॉ. वीरेंद्र कुमार मीणा जी ने किया जबकि धन्यवाद ज्ञापन द्विदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के संयोजक इलाहाबाद विश्वविद्यालय हिंदी विभाग के डॉ. राजेश कुमार गर्ग जी ने किया।